

93

मनोवैज्ञानिक संजीवनी

(मनोवैज्ञानिक लेख-माला)

सम्पादक

लालजीराम शुक्ल

प्रकाशक

काशी मनोविज्ञानशाला सिद्धगिरि, बनारस

१९५४

मूल्य २)

मनोवैज्ञानिक संजीवनी

(मनोवैज्ञानिक लेख-माला)

सम्पादक
लालजीराम शुक्ल

प्रकाशक
काशी मनोविज्ञानशाला सिद्धगिरि, बनारस

१९५४

मूल्य २)

विषय सूची

सं०	विषय	पृ० सं०	सं०	विषय	पृ० सं०
१	मनोविज्ञान और सामाजिक प्रगति	१	२५	सफल अध्ययन की मनोवैज्ञानिक विधि	६७
२	आधुनिक मनोविज्ञान की विशेषता	३	२६	मनोविज्ञानशाला में मानसोपचार (३० हुसेन)	७१
३	भूत वाधायें	५	२७	ग्रामीण मन की विशेषताएँ	७३
४	स्वप्न द्वारा आत्मनिर्देशन	७	२८	श्री राजाराम शास्त्री का भाषण	७६
५	प्रेम और मानसिक आरोग्य	८	२९	नई मानसिक चिकित्सा	७९
६	वच्चे के व्यवहार में सुधार	१३	२		
७	मानसिक व्याधियों के हटाने के मनो- वैज्ञानिक उपाय	१५	१	मन का क्रमिक विकास	१
८	वचपन के संस्कार और आरोग्य	१६	२	वच्चों के प्रति प्रेम से मानसिक लाभ	२
९	नये मनोवैज्ञानिक प्रयोग	२०	३	कला और मानसिक विकास	६
१०	मनोविज्ञान की लोक-सेवा	२३	४	वचपन और मानसिक रोग	८
११	व्यक्तित्व का विभाजन	२५	५	किशोरावस्था में मानसिक जटिलताएँ	१२
१२	शारीरिक रोगों का मानसिक आधार	२८	६	बालिका के प्रति नया दृष्टि कोण	१४
१३	प्रेम रोग	३१	६	बच्चों का क्रोध	१७
१४	नींद और मानसिक स्वास्थ्य	३३	७	वच्चों की मानसिक जटिलता का उपचार	१९
१५	हमारी ग्रामीण सांस्कृतिक सम्पत्ति	३७	८	वच्चों का भूट	२२
१६	मनोविज्ञानशाला में मानसोपचार (निराशा से मुक्ति)	३९	९	मनोविज्ञानकी सबसे महत्व की देन	२५
१७	स्नेह के चमत्कार	४१	१०	कविता और मनोविज्ञान	२७
१८	मानसिक चिकित्सा की उपयोगिता	४२	११	मनोविज्ञानशाला में मानसोपचार (हकलाइट में सुधार)	२९
१९	स्वप्न का अर्थ	४५	३		
२०	मेरी अनिद्रा के कारण और उनका निवारण	४९	१	समाज प्रगति का मनोवैज्ञानिक साधन	९
२१	मानसिक चिकित्सा का रहस्य	५१	२	मनोविज्ञान और राष्ट्र का नव निर्माण	११
२२	मनोवैज्ञानिक संजीवनी	५७	३	कला और मानसिक आरोग्य	१७
२३	मानसिक रोगों के कारण	६३	४	मानसिक खिंचाव	२१
२४	कविता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन	६५	५	मेरा स्वास्थ्य लाभ	२३

दो शब्द

आधुनिक काल में मनोविज्ञान के क्षेत्र में बड़े महत्व की खोजें हुई हैं। उन खोजों का साधारण उद्देश्य लौकिक जीवन में सफलता प्राप्त करना मात्र रहा है। मनुष्य की बुद्धि और योग्यता की माप करना, किसी विशेष प्रकार के मानसिक रोग की चिकित्सा करना, और कुशल सामाजिक या राजनीतिक बनना, यही साधारण मनोवैज्ञानिक अध्ययन का प्रयोजन रहता है; परन्तु मनोनिज्ञान का उद्देश्य आत्म-विजय प्राप्त करके शाश्वत शान्ति प्राप्त करना भी हो सकता है। मनोविज्ञान का इस प्रकार सदुपयोग भारत वर्ष के प्राचीन ऋषियों ने किया था। भगवान् बुद्ध और महर्षि पातंजलि ने ऐसे मनोविज्ञान की रचना की थी जिनके ज्ञान से और जिनमें बतलाये साधारण अभ्यास से मनुष्य न केवल स्थाई मानसिक और शारीरिक रोगों से मुक्त हो सकता है वरन् भव रोग से भी मुक्त हो जाता है। मनो-वैज्ञानिक संजीवनी का उद्देश्य इस प्रकार की खोजों को प्रकाश में लाना है। विदेश के कुछ विद्वान भी मनोविज्ञान का सर्वोत्तम उद्देश्य आत्म-निर्माण मानने लगे हैं। इनके विचारों को भी जनता के समक्ष रखना आवश्यक है।

भगवान् बुद्ध और पातंजलि की योग की साधनाओं को व्यवहार में लाने से अनेक प्रकार के मानसिक क्लेश दूर हो जाते हैं और संसार के सामान्य पुरुष ऐसे रोगों से बचे रह सकते हैं जो अन्यथा उन्हें हो जाते हैं। काशी मनोविज्ञान शाला में इन साधनाओं संबंधी अनेक प्रयोग किये गये हैं। ये प्रयोग डा० फ्रायड, चार्ल्सयुंग और डा० विलियममब्राउन की विचार प्रणाली से भी लाभ उठाकर सफल बनाये गये हैं; परन्तु इनका मूल-तत्व भारतीय दर्शनों से लिया हुआ है। आनापान-सति के अभ्यास के द्वारा मनुष्य स्वगत सम्मोहन की अवस्था में आ सकता है, वह जितनी देर चाहे उतनी देर के लिये अपने को मानसिक और शारीरिक पीड़ाओं से मुक्त कर सकता है तथा आनापानसति द्वारा प्राप्त योग मुद्रा में वह अपने मन में जिस विचार को दृढ़ता से बैठाना चाहता है बैठा सकता है। आनापानसति शुभ आत्म-निर्देश देने का सर्वोत्तम उपाय है। आनापानसति से सैकड़ों प्रकार के रोग रोगी का बिना मनोविलक्षण किये अच्छे हो सकते हैं। इन बातों की सत्यता काशी मनोविज्ञान शाला की मानसिक चिकित्सा में प्रमाणित हुई है। आनापानसति के द्वारा हमने भूत का भय, अकारण चिन्ता और भय, अनेक प्रकार की शारीरिक पीड़ाये, सिर और पेट की पीड़ा, हृदय की 'घड़कन' आदि अच्छे किये हैं। भगवान् बुद्ध का कहना है कि आनापान सति के द्वारा मनुष्य निर्वाण तक की प्राप्ति कर सकता है। अतएव अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोगों का इसके द्वारा अच्छा हो जाना एक साधारण सी बात है। हमने जो प्रयोग इस अभ्यास के अब तक किये हैं उन्हीं के निष्कर्षों को इस लेख संग्रह में किया है। डा० विलियममब्राउन ने आनापानसति के जैसे ही अभ्यास द्वारा अनेक प्रकार के मानसिक रोगियों की चिकित्सा पिछली लड़ाई के समय की थी। वे इसका उपयोग अनेक प्रकार के मानसिक व्याधि के ग्रस्त रोगी के लिये करते हैं।

जिस प्रकार आनापानसति का अभ्यास रोगों के अपहरण में बड़े ही महत्व का है उसी प्रकार शान्तभावना का अभ्यास भी मानसिक रोगों के हरण में बड़ा महत्व रखता है। यह अभ्यास भी भगवान् बुद्ध स्वयं करते थे और अपने शिष्यों को विधिवत करने के लिये ब्रताये। यह अभ्यास जब आत्म-निर्देश कारूप धारण कर लेता है तब मनुष्य को ऐसी अनेक प्रकार की चिन्तायें नहीं सताती जो उसे अन्यथा सताती रहती है और उसका जीवन भार रूप बना देती हैं। शान्त भावना के अभ्यास का प्रभावशारीरिक

पर इतने महत्त्व का पड़ता है कि मनुष्य इसके द्वारा अपने किसी अंग को शीतोष्ण के दुःख से विमुक्त कर सकता है। शान्त भावना का अभ्यास करते करते यदि मनुष्य को नींद आ जाय तो उसका जटिल शारीरिक रोग भी नष्ट हो जाता है। इन अभ्यासों का वर्णन प्रस्तुत लेखों में दिया गया है। आनापानसति और शान्तिभावना के अतिरिक्त मैत्री भावना का अभ्यास भी रोग के विनाश के लिए बड़ा ही लाभकारी है। मैत्री भावना दूसरों के प्रति अथवा अपने ही प्रति की जा सकती है। दूसरों के प्रति की गई मैत्री भावना आत्म-मैत्री का सर्वोत्तम उपाय है।

जिस प्रकार व्यक्तियों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास हमें लाभप्रद होता है इसी प्रकार घटनाओं के प्रति मैत्री भावना आवश्यक है। सभी घटनाओं के मंगलमय पहलू के देखने से हम उस घटना की मंगल कारिता घड़ा देते हैं। ऐसे व्यक्ति को अमंगल भी मंगल बन जाता है और उसकी असफलता भी सफलता की सीढ़ी बन जाती है। इमर्सन महाशय का कथन है कि दार्शनिक, संत, और कवि के लिये सभी वस्तुयें मंगलमय और पवित्र हैं, सभी घटनायें लाभकारी हैं सभी दिन शुभ हैं और सभी पुरुष दैवी पुरुष हैं। इस प्रकार का अभ्यास मैत्री भावना का अभ्यास है। इस तरह के अभ्यास से मनुष्य अपनी परिस्थितियों पर सच्ची विजय प्राप्त करने में सफल होता है। परिस्थितियों को दुश्मन मान कर सफलता उतनी नहीं होती जितनी उन्हें मित्र मान कर होती है। इस अभ्यास को करके हमारे कई साधकों ने अपने दुःखमय जीवन को सुखी बनाया है।

मैत्री भावना के अभ्यास का तीसरा पहलू आत्म-मैत्री स्थापित करना है। प्रत्येक मनुष्य में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ सदाबद्ध अवस्था में रहती हैं—एक सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ हैं और दूसरी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ। सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ हमारे पुरुषार्थों की प्रेरक होती हैं और प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ विकृत होकर पापाचरण में प्रवृत्त होती हैं। मनुष्य का पुरुषार्थ सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने में है। इस प्रकारकी विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन काम है। शोपनहावर महाशय का कथन है कि संसार का महान पुरुष वह नहीं है जो सारे संसार का विजय कर लेता है वरन् वह है जो अपने आप पर विजय प्राप्त करता है। प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करना उन्हें अपना मित्र मान कर चलने से अत्यन्त सरल हो जाता है। ये प्रवृत्तियाँ मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित रहती हैं और जब हम उनको बुरा मान कर विजयी बनना चाहते हैं तो वे वास्तव में बुरी बन जाती हैं और मनुष्य के विनाश का कारण बन जाती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि दमन की क्रिया मनुष्य के अनेक शारीरिक व मानसिक रोगों की जनक होती है। यह दमन मनुष्य के अचेतन मन में होता है। जिन लोगों में नैतिक आदर्श अति उच्च होते हैं उनके मन में दमनात्मक कार्य सदा होते रहता है, इससे वे बाहरी जीवन में शान्त दिखाई देते हैं परन्तु आन्तरिक जीवन कलह युक्त होता है। जब तक मनुष्य प्राकृतिक व सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित नहीं कर लेता तब तक उसके व्यक्तित्व में न शक्ति रहती है और न वह सच्चा आरोग्यवान बनता है। इस प्रकार का समन्वय पार्श्विक प्रवृत्तियों के प्रति मैत्री भावना के अभ्यास से होता है। इस तरह का मैत्री भावना का अभ्यास करना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि इसमें वासनाओं को मनमानी करने देने की छूट देना नहीं होता और दूसरी ओर उन्हें बुरा न मानकर भला मानते हुये उनकी शक्ति को सदुपयोग में लगाना होता है। प्रस्तुत लेखों में आत्ममैत्री स्थापन के व्यवहारिक उपाय प्रयोगों के आधार पर बताये गये हैं।

मनोविज्ञान और सामाजिक प्रगति

मनुष्य की प्रगति प्राकृतिक नियमों को समझने पर निर्भर करती है। पदार्थविज्ञान बाह्य प्रकृति को समझने की चेष्टा के परिणाम स्वरूप सृजित हुआ है और मनोविज्ञान मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति के समझने की चेष्टा का परिणाम है। जितना ही अधिक हम बाह्य अथवा आन्तरिक प्रकृति को समझते हैं उस प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की हम उतनी ही अधिक क्षमता बढ़ाते हैं। आज का मानव बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के अनेक उपाय खोजता है परन्तु आन्तरिक प्रकृति की विजय के प्रति वह उदासीन है। उसे यह समस्या ही नहीं दिखाई पड़ती। यही कारण है कि संसारमें सब प्रकारकी सुख की सामग्री होने पर भी घनी और न गरीब सुखी हैं। गरीब लोग घनी लोगों की ईर्ष्या से मरे जा रहे हैं और घनी उनके भय से। पूरे समाज में घृणा का वातावरण फैला है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को, एक वर्ग दूसरे वर्ग को सदा दबाने अथवा विनाश कर देने की चिन्ता में लगा हुआ है।

मनोविज्ञान के गंभीर चिन्तकों का कथन है कि मनुष्य के सुख दुःख का कारण उसकी बाह्य परिस्थितियाँ उतनी नहीं हैं जितनी उसकी मानसिक परिस्थितियाँ हैं। यदि मनुष्य का मन विगड़ा हो और बाह्य परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो मनुष्य उसी प्रकार दुःखी रहेगा जिस प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण वह दुःखी रहता है। फिर यदि मनुष्य का मन अपने वश में है तो प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़कर भी वह सुखी रह सकता है। संसार के साधारण लोग इस प्रकार के विचारों की हँसी उड़ाते हैं। मनुष्य अपने सुख और दुःख में परिस्थितियों को ही प्रधानता देना चाहता है। फिर जो लोग समाज में क्रान्ति करना चाहते हैं वे इस प्रकार के विचार को बड़ा हानिकारक भी मानते हैं। यदि मनुष्य सोच बैठे कि उनका मन ही उसके सुख और दुःख का कारण है, बाह्य परिस्थितियाँ सुख दुःख का कारण नहीं हैं, तो वह सामाजिक क्रान्ति में भाग ही क्यों लेगा ? वह कष्टदाई परिस्थितियों को बदलने की चेष्टा क्यों करेगा। अतएव यदि मनोविज्ञान मनुष्य के सुख दुःख में और प्रगति में मन की प्रधानता दर्शाता है तो इस प्रकार की विद्या मनुष्य की प्रगति के लिये हानिकारक है।

उक्त प्रकार के चिन्तक यह बात भूल जाते हैं कि किसी भी प्रकार की परिस्थिति के बदलने का सामर्थ्य उन परिस्थितियों में नहीं है वरन् मनुष्य के मन में है और जब तक मनुष्य को यह विश्वास नहीं दिलाया जायगा कि वह अपनी परिस्थिति को बदल सकता है तब तक वह किसी प्रकार सुखी न हो सकेगा। पहले मनुष्य का मन बदलता है, पीछे उसकी परिस्थितियाँ बदलती हैं। किसी प्रकार का निश्चय करने के लिये मनुष्य को भारी तैयारी की आवश्यकता होती है। नये निश्चय के लिये मनुष्य को जितने प्रयत्न की

होती है उतनी आवश्यकता निश्चित काम को पूरा करने के लिये नहीं होती। विलियम जेम्स का कथन है कि जब किसी प्रकार का विचार मनुष्य के मन में चढ़ता है तो उसको पूरा करने वाली क्रिया अपने आप ही होने लगती है। मुख्य कार्य निश्चय का ही है। अनुद्योगी असफल लोगों के निश्चय सदा बदला करते हैं। वे आज कुछ सोचते हैं और कल दूसरा सोचने लगते हैं। किसी प्रकार के निश्चय की चढ़ता के लिये बड़े गंभीर चिन्तन की आवश्यकता होती है और अपने स्वभाव में भी विशेष प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता होती है। जब यह परिवर्तन हो जाता है तो परिस्थिति भी सरलता से बदल जाती है। मनुष्य में सामर्थ्य का उदय होना एक बड़े महत्व की मनोवैज्ञानिक घटना है; जब सामर्थ्य का उदय हो जाता है तो मनुष्य सब कुछ कर लेता है।

मनुष्य के मन में कितनी शक्ति है इसका ज्ञान स्वयं उसे नहीं रहता। इसी प्रकार मानव समाज किस समय क्या कर सकता है, इसका भी पहलेसे अन्दाज नहीं लगाया जा सकता है। जिस प्रकारके विचार समाज में फैलते हैं उसी प्रकार का मनुष्यों का मन बन जाता है और फिर समाज के लोगों का आचरण भी उसी प्रकार का हो जाता है। कितने ही बड़े राष्ट्र छोटे छोटे राष्ट्रों के अधिकार में इसलिये पड़े रहते हैं कि उन्हें अपने ही बल का ज्ञान नहीं है। इस प्रकार मुट्ठी भर अंग्रेज भारतवर्ष पर राज्य कर रहे थे। जब भारत के लोगों को अपने सामर्थ्य का ज्ञान हो गया तो अंग्रेजों को भारतवर्ष छोड़कर जाना पड़ा। इस सारी घटना के पीछे मानसिक परिवर्तन ही एक मात्र कारण था। अंग्रेजों में कहावत है कि जो सोचता है कि हम अमुक काम करने में सफल होंगे वह उस कार्य के करने में अवश्य सफल होता है। फिर एक व्यक्ति के आशावादी और रचनात्मक विचार लाखों मनुष्यों के उसी प्रकार के विचार बन जाते हैं। जब विचारों का इस प्रकार प्रचार हो जाता है तो मानव समाज की ही कायापलट हो जाती है।

किसी प्रकार की विचार धारा की सफलता उसके सत्यता में विश्वास और प्रचार पर निर्भर करती है। इस प्रचार से समाज के दूसरे लोगों का मानसिक परिवर्तन होता है और इसके परिणामस्वरूप समाज में क्रान्तियाँ होती हैं। मनोविज्ञान बताता है कि मनुष्य में अशान्ति के विचार क्यों आते हैं और उनका प्रचार समाज में किस प्रकार होता है। किसी प्रकार की क्रान्ति का आधार मनुष्य के असन्तोष के विचार हैं। जब मनुष्य के मन में किसी व्यक्ति, अथवा राष्ट्र के प्रति असन्तोष रहता है तो मनुष्य या तो भाग्यवादी बन जाता है अथवा वह पुरुषार्थवादी बनकर अपने दमन करनेवाले की सत्ता के प्रतिकूल विद्रोह करता है।

मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि मनुष्य के मन की प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। इसलिये प्रत्येक क्रान्ति के बाद प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ समाज में आ जाती हैं। अतएव जो कार्य जल्दी में होता है वह स्थायी नहीं होता। फिर मनुष्य जिन भावों का अभ्यास किसी दूसरे व्यक्ति को ध्यान में रखकर करता है वे भाव उसके ही मित्र अथवा शत्रु बन जाते हैं। इस प्रकार दूसरे को विनाश करने के भाव आत्म-विनाश के भावों के जनक होते हैं। अतएव जो प्रगति मानव समाज में किसी के विनाश के भावों की प्रधानता के कारण होती है वह बाद में अप्रगति बन जाती है।

समाज में किसी प्रकार का परिवर्तन लाने के लिए मनुष्यों के मन को बदलना आवश्यक है। यह मानसिक परिवर्तन न केवल समाज के कुछ पढ़े लिखे लोगों का हो, बल्कि सामान्य जनता का भी हो। जब कभी राष्ट्र के नेता केवल समाज चिन्तनशील जनता के आधार पर कोई सामाजिक सुधार की योजना बनाते हैं तो वे समाज को आगे न बढ़ाकर पीछे को ही ले जाते हैं। सामान्य जनता के विचारों में परिवर्तन होने के पश्चात् ही कोई प्रगतिवादी सामाजिक नियम बनाया जा सकता है। भारतवर्ष में

प्राधुनिक मनोविज्ञान की विशेषता

[प्रो० ए० जेफ़ का काशी मनोविज्ञानशाला की साप्ताहिक बैठक में भाषण]

संसार के प्राधुनिक काल के सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक चार्ल्स युंग महाशय हैं। उनके कथनानुसार मनुष्य का सर्वोच्च पुरुषार्थ आत्मज्ञान की प्राप्ति है। यही उद्देश्य प्राचीन भारतीय ऋषियों का रहा है। भारतीय योगी आत्म-साक्षात्कार करने के लिये योगाभ्यास करते थे। इस प्रकार चार्ल्स युंग महाशय के मनो-

अच्छूतों की तथा स्त्रियों की दशा सुधारने के लिये बहुत कुछ प्रचार महात्मा गांधी ने किया। इस प्रचार के परिणामस्वरूप ही इन लोगों को सुविधा देनेवाले कुछ राज्यनियम बनाये जा सके। हमारे समाज के प्रायः सभी चिन्तनशील व्यक्ति बातपोंत की व्यर्थता को मानते हैं, परन्तु उससे मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। इसका प्रमुख कारण इन विचारों का साधारण जनता तक नहीं पहुँचना है। देश के सभी वर्ग के लोगों में जो विचार फैल जाता है वही क्रिया में प्रकाशित होता है।

मन की सूक्ष्म क्रियाओं का ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति यह निश्चय नहीं कर पाते कि सामाजिक प्रगति ही किस बात में है। भोजन और कपड़ा मिल जाना मात्र सामाजिक प्रगति नहीं है। वे वस्तुयें मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। परन्तु मनुष्य के अधिक दुःख उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्ध नहीं रखते, वे उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखते हैं। मनुष्य ईर्ष्या-द्वेष, मान-अपमान के कारण जितना दुःखी होता है भोजन और कपड़ा की कमी के कारण उतना दुःखी नहीं होता। मनुष्य के मानसिक-रोगों का कारण प्रधानतः उसकी मानसिक परिस्थिति ही होती है। जिस मनुष्य के मन की बनावट ही विकृत है वह कितने ही अच्छे वातावरण में न रख दिया जाय शीघ्र ही वह अपने आपको दुःखी बना लेता है। जहाँ उसका कोई शत्रु नहीं वहाँ वह शत्रुओं का निर्माण कर लेता है। आत्महीनता की ग्रन्थि के लोग अपने आसपास शत्रु ही शत्रु देखते हैं। इसके प्रतिकूल आत्मविश्वास से पूरित लोग शत्रुओं को भी मित्र में परिणत कर लेते हैं।

मनोविज्ञान हमें दर्शाता है कि हम संसार को वैसा नहीं देखते जैसा वह है वरन् जैसे हम हैं। हम अपने ही गुप्त भावों को संसार के दूसरे लोगों और परिस्थितियों पर आरोपित कर देते हैं।

जब किसी मनुष्य के मनमें हीनता का भाव रहता है तो वह सोचता है कि दूसरे लोग उसे नीचे गिराना चाहते हैं। वह अपने आपको उनके षण्यन्त्रों से बचाने की चेष्टा करने लगता है और इस प्रकार शत्रुता का वातावरण उपस्थित कर लेता है। अपने आन्तरिक मन में हीनता का भाव रखनेवाला व्यक्ति अपने आपको महान बनाने का अनेक उपाय रचता है। इस प्रकार वह समान के दूसरे लोगों से संघर्ष उत्पन्न कर लेता है। संसार के विभिन्न राष्ट्रों में भी इसी प्रकार संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। पिछली लड़ाई के मनोवैज्ञानिक कारण पर विचार करने से पता चला कि जर्मनी अपने आप को शत्रुओं से घिरा पाता था। वह संसार को अपनी महान वा प्रदर्शित करना चाहता था। अतएव इन दोनों राष्ट्रों ने अपनी शक्ति से अधिक काम अपने ऊपर ले लिया। उन्होंने अपने मित्रों को भी शत्रु बना लिया। फिर उनकी सामाजिक प्रगति अप्रगति बन गई। जर्मनी ने अपना नेता जिस व्यक्तिको चुना वह उसकी मानसिक स्थिति को व्यक्त करता था। वह सम्पूर्ण जर्मनी का प्रतीक था और उसके पतन के साथ साथ जर्मनी का पतन हो गया। यदि मनुष्य अपने आप का निरीक्षण करते रहे तो वह एका एक नीचे न गिरे, इसी प्रकार राष्ट्र में यदि मनोविज्ञान की दृष्टि हो तो वह अपने आप को विनाश से बचा ले।

प्रयत्न का वही लक्ष्य है जो भारतवर्ष के ऋषियों का था। परन्तु युंग महाशय के 'आत्म' शब्द से वही अर्थ नहीं है जो भारतवर्ष के ऋषि समझते थे। भारतीय विचारानुसार आत्मा का अर्थ व्यापक तत्व है और युंग की विचारधारा के अनुसार आत्मा का अर्थ व्यक्तिगत संस्कारों का समुच्चय है। आत्म-साक्षात्कार का अर्थ भारतीय विचार में असीम चेतन तत्व की प्राप्ति है और पश्चिमी विचार के अनुसार आत्म साक्षात्कार का अर्थ अचेतन मन की बातों को चेतन बना देना है। जितना ही जो व्यक्ति मन के अचेतन भावों को जानता है, वह अपने व्यक्तित्व का प्रसार उतना ही अधिक कर लेता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के जनक डा० सिगमंड फ्रायड हैं। चार्ल्स युंग उनके शिष्य हैं। परन्तु फ्रायड महाशय के विचारों से युंग महाशय के विचार बहुत भिन्न हैं। फ्रायड के कथनानुसार मनुष्य के जीवन की मूल-शक्ति काम वासना है। इसी शक्ति के सुचारु रूप से प्रकाशन से जीवन का विकास होता है और उसके दमन से मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। चार्ल्स युंग के कथनानुसार कामशक्ति का महत्व जीवन में अवश्य है, परन्तु यह जीवन की अकेली ही शक्ति नहीं है, जिसके कारण जीवन नाना रूप से स्फुरित होता है। कामशक्ति के अतिरिक्त मनुष्य में एक आध्यात्मिक शक्ति भी है। यह शक्ति मनुष्य के क्रिया-कलापों में काम शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक स्थान रखती है। इस दृष्टि से चार्ल्स युंग का दृष्टि कोण भारतीय योगिक दृष्टिकोण से मिलता जुलता है।

चार्ल्स युंग महाशय का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना विकास अपने ही ढंग से कर सकता है। मानसिक रोगों की चिकित्सा में भी प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव को समझ कर विशेष प्रकार की चिकित्सा करनी पड़ती है। चार्ल्स युंग ने मनुष्य के व्यक्तित्व के मुख्यतः दो प्रकार बताये हैं।—एक बहिर्मुखी और दूसरा अन्तर्मुखी। फिर इन दो प्रकार के व्यक्तित्व के मानसिक कार्य चार प्रकार से होते हैं और इस तरह प्रत्येक प्रकार का, अर्थात् बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दोनों प्रकार के व्यक्ति चार तरह के होते हैं। (१) संवेदनात्मक (२) भावात्मक (३) बौद्धिक और (४) प्रज्ञात्मक। युंग महाशय के कथनानुसार मनुष्यकी अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता में विरोध होता है। इसी प्रकार संवेदनात्मक और प्रज्ञात्मक तथा भावात्मक और बौद्धिक तत्वों में आपसका विरोध होता है। जब मनुष्यके एक प्रकारके स्वभावमें अभिवृद्धि होती है, तब उसके विरोधी स्वभाव का दमन होता है। इससे दमित अंग का विकास नहीं होता। यह मानसिक रोग उत्पन्न करता है। मानसिक चिकित्सक मनुष्य के स्वभाव को पूर्णतया तो नहीं बदल सकता क्योंकि यह जन्मजात है, परन्तु वह दमित प्रवृत्तियों को प्रकाशित होने का अवसर देकर उनकी अभिवृद्धि कुछ न कुछ अवश्य कर सकता है। इस प्रकार के प्रयत्न से जीवन का विगड़ा हुआ सन्तुलन फिर से ठीक हो जाता है।

मानसिक चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह किसी रोगी की चिकित्सा करने के पूर्व उसके स्वभाव को समझे। इस स्वभाव को जानने के लिए प्रत्येक मानसिक चिकित्सक को रोगी की उन बातों को भली प्रकार देखते रहना आवश्यक है, जो निरर्थक समझी जाती हैं। जब चिकित्सक ध्यानपूर्वक किसी रोगी का अध्ययन करता है तब इस अध्ययन से अपने आप का ज्ञान बढ़ता है। रोगी के गुप्त मन का अध्ययन उसकी कोई भी अर्थ हीन क्रियाओं को सतर्क होकर देखने से होता है। स्वप्न के अध्ययन और शैथिली-करणकी अवस्था में रोगी के मन में आयी शक्तें जानने से न केवल उसके स्वभाव का ज्ञान हो जाता और है, वरन् हम उसकी शक्ति का सदुपयोग करने में भी समर्थ होते हैं। किसी भावना के प्रकाशित होने से वह भावना शक्तिहीन हो जाती है। फ्रायड महाशय के आविर्भाव के पूर्व हम स्वप्नों को अर्थहीन समझते थे, परन्तु आज हमें ज्ञात हो रहा है कि मनुष्य के जीवन की कोई भी क्रिया अर्थहीन नहीं है और उसके

भूत-बाधाएँ

संसार के प्रत्येक देश में भूतों के अस्तित्व के बारे में चर्चा चली आई है। यह बर्बर जाति के लोगों में और सभ्य लोगों में भी पाई जाती है। अशिक्षित लोगों में तथा स्त्रियों में भूतों के अस्तित्व में अधिक विश्वास रहता है। वे इन लोगों को त्रास भी अधिक देते हैं। भूतों के उपद्रवों के विषय में कभी-कभी अखबारों में भी चर्चा छप जाती है। कितने ही लोग भूतों को बुलाते हैं और उनके द्वारा कुछ प्रश्न हल करते हैं, इसके लिये वे किसी माध्यम को तैयार करते हैं। भूतों के द्वारा अशिक्षित लोग ही त्रस्त नहीं होते वरन् शिक्षित लोग भी त्रस्त होते हैं। जब भूतों की वैज्ञानिक विधि से खोज की जाती है तो वे कहीं नहीं पाये जाते। यदि विज्ञान के द्वारा देवी देवता और ईश्वर का पता नहीं चलता तो भूतों का कैसे पता चलेगा।

विज्ञान के अध्ययन ने कई बातों पर प्रकाश डाला है। मनुष्य के दुःखों की संख्या विज्ञान की वृद्धि से कम हो गई है, पर उनका अन्त नहीं हुआ। अब भूत बाधाओं ने अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का रूप धारण कर लिया है। जो व्यक्ति जितना ही शिक्षित होता है वह अपने किसी भी दुःख का स्वप्न के अनुभव चाहे कितने ही अर्थहीन क्यों न दिखाई दे, वे वास्तव में उसकी विशेष प्रकार की वासनाओं अथवा आकांक्षाओं को गुप्त ढंग से प्रकाशित करते हैं। प्रत्येक मनुष्य स्वप्न देखता है अर्थात् वह कुछ न कुछ समय के लिये पागल व्यक्ति की तरह अनुभव करने लगता है। पागल व्यक्ति सभी समय स्वप्न जैसी मानसिक अवस्था में रहता है। अतएव स्वप्न का अध्ययन पागल की मानसिक स्थिति समझने में बड़ा ही सहायक है। डा० फ्रायड और युंग दोनों ही मनोविश्लेषण के कार्य में स्वप्न से सहायता लेना आवश्यक समझते हैं।

मानसिक चिकित्सा की दो विधियाँ हैं। एक निर्देश विधि और दूसरी मनोविश्लेषण विधि। आधुनिक मनोवैज्ञानिक मानसिक रोगों के उपचार में निर्देश विधि को उपयोगी नहीं मानते हैं। निर्देश द्वारा चिकित्सा करने से मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित मानसिक ग्रन्थिका निराकरण नहीं होता, उसका दमन मात्र होता है। "संच्चा मनोविश्लेषक मनुष्य को अपने मन में ही निहित मानसिक शक्तियों वासनाओं अथवा दमित स्मृतियों का ज्ञान कराता है। जिस प्रकार एक दाई एक स्त्री को बच्चे को जन्म देने के समय सहायक बनती है, उसी प्रकार एक चिकित्सक मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित भावों को चेतना की सतह पर लाने में सहायता देता है। मानसिक चिकित्सक का बहुत कुछ कार्य एक बागवान के समान है। बागवान बगीचे के पौधों को बढ़ने में सहायता देता है उनका वह दमन नहीं करता। चिकित्सक की सहायता से रोगी का मन स्वस्थ होकर पूर्णता की ओर जाता है।

भारतीय योगिक मानसिक चिकित्सा की विधि और यूरोपीय मनोवैज्ञानिक चिकित्सा विधि में एक मौलिक भेद यह है कि भारतवर्ष में लोग किसी बाहरी लाभ की आशा न करते हुए केवल आध्यात्मिक लाभ के लिये दूसरों की सेवा बीस-बीस घण्टे तक कर लेते हैं। मानसिक रोग की चिकित्सा के लिये जो सलाह योगी सन्त और महात्मा देते हैं, उसके लिये वे कोई पुरस्कार की आशा नहीं करते, परन्तु यूरोप और अमेरिका में किसी भी प्रकार की चिकित्सा का कार्य बिना आर्थिक आचार के नहीं होता। अतएव बहुत थोड़े लोग ही इस प्रकार की चिकित्सा से लाभ उठा पाते हैं।

अपने से बाहर न देखकर अपने भीतर ही देखता है। अपने भीतर दोष को पहचान लेने से वह उससे जल्दी से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति अपने दोषों से जितना ही कम मुक्त होना चाहता है वह उतना ही किसी बाहरी आलम्बन की खोज करता है। इस प्रकार किसी भौतिक मानसिक क्लेश शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है। फिर शारीरिक रोग के लिये भी कोई बाहरी सत्ता में विश्वास किया जाता।

भूत-वाचाओं की उपस्थिति के पूर्व मनुष्य के मन में अनेक प्रकार का मानसिक द्वन्द्व चलता रहता है। मान लीजिये कि किसी व्यक्तिने किसी निर्दोष व्यक्तिकी हत्या कर डाली, उसका रूपया खा लिया, कहीं अपनी अन्तरात्मा के प्रतिकूल चोरी कर ली अथवा किसी प्रकार का व्यवहार किया। इन कामों के करने के बाद इनके विचार मनुष्य के मन को त्रास देने लगते हैं। इन त्रास-युक्त विचारों को भुलाने की चेष्टा मनुष्य करता है। यहाँ यह आवश्यक नहीं है कि किसी कृत्य के विषय में मनुष्य के व्यक्तिगत विचार क्या है। सामाजिक विचार ही मनुष्य को दुःखी बनाने के लिये पर्याप्त होते हैं। जो कार्य दूसरों से छुपाने योग्य है उनके विचार मनुष्य को त्रास देते हैं। इन विचारों को भुलाने की चेष्टा के परिणामस्वरूप ये विचार आन्तरिक मन में चले आते हैं। फिर यही बाहरी रोग के रूप में आ जाते हैं। ये रोग शारीरिक अथवा मानसिक हो सकते हैं।

यदि मनुष्य की तर्क बुद्धि प्रवीण हुई तो उसे बाध्य विचार, इल्लत, अन्निद्रा तथा हिस्टीरिया का रोग हो जाता है। यदि तर्क बुद्धि प्रवीण न हुई तो उसे प्रेत वाचायें तंग करने लगती हैं। मनुष्य के अपने ही अप्रिय विचार उसे तंग करते हैं, मनुष्य की दमित भावनायें किसी वास्तविक अथवा कल्पित पदार्थ पर आरोपित हो जाती हैं और वे इस प्रकार प्रकाशित होती हैं जिससे मनुष्य को अधिक कष्ट हो। भूतों द्वारा त्रस्त होना अपने दमित आन्तरिक मन द्वारा त्रस्त होना है।

जब किसी के मन की अप्रिय भावना का दमन किया जाता है अर्थात् जब उसे चेतना के स्तर पर नहीं आने दिया जाता तो वह मन के भीतरी भाग में चली जाती है और वह मन को विभाजित कर देती है। मन का यह दबा हुआ विभाजित भाग मनुष्य की इच्छा-शक्ति से स्वतंत्र हो जाता है, फिर यह मनुष्य की चेतना के समक्ष इस प्रकार आता है कि वह बाहर की कोई वस्तु हो। यही भूत-वाचाओं का रोग बोला जाता है।

मनोविज्ञानशाला के सम्पर्क में आये हुए एक मैलेन्कोलिया के रोगी को इस रोग के होने के पूर्व एक ऐसी युवती का स्वरूप बारबार दिखाई देता था जो वास्तव में कहीं नहीं थी। वह इस कल्पित रूप-वान स्त्री के प्रेम में विमोहित था। इस रोगी के पूर्व जीवन के अध्ययन से पता चला कि वह अपनी माँ के प्रेम से आसक्त था। नैतिकता उसके प्रेम-प्रकाशन में बाधक थी, अतएव कई दिनोंतक प्रेम और नैतिकता का संघर्ष चेतन मन में चलता रहा और पीछे, यही अचेतन मन में पहुँच गया। अपनी माँ का प्रेम ही फिर मानसिक रोगके रूप में एक कल्पित युवती की प्रतिमा में प्रकाशित होने लगा।

एक दूसरे नवयुवक के मनमें अपने एक सम्बन्धी के प्रति समलिंगी प्रेम था। यही प्रेम कभी भूत के भय में कभी सौँप के द्वारा काटे जाने द्वारा भय में प्रकाशित होता था। जब दमित वासना भूत के भय में प्रकाशित नहीं होती तब हिस्टीरिया का रूप धारण कर लेती है। हिस्टीरिया का रोग भी भूतों द्वारा त्रस्त होने का भय कहलाता है। हिस्टीरिया के रोगी के ध्यान को किसी एक स्थान पर केन्द्रित करने से बिना प्रकार के चित्र सुझाए जाते हैं वैसे ही चित्र दिखाई देने हैं। हिस्टीरिया का रोगी कभी कभी ऐसी बातें कहता अथवा लिख देता है जो सत्य होते हुए भी उसकी चेतना को ज्ञात नहीं रहता। वे किसी प्रेत द्वारा

स्वप्न द्वारा आत्म-निर्दर्शन

मनुष्य दो जगत् का प्राणी है, वे हैं वाह्य जगत् व अन्तर्जगत् । उसके व्यक्तित्व के एक भाग का प्रदर्शन वाह्य-जगत् में होता है और दूसरे भाग की संतुष्टि अन्तर्जगत् में । वाह्य-जगत् के क्रिया-कलापों व अन्तर्जगत् के क्रिया-कलापों में तात्त्विक-भेद होता है । वाह्य-जगत् के हमारे व्यापार व्यक्तित्व के उस भाग से सम्बन्धित है जो हम आभासित करना चाहते हैं—वास्तव में हम वैसे हैं नहीं— इसके विपरीत अन्तर्जगत् में हम अपने को अपने जैसा पाते हैं । यही हमारा वास्तविक जगत् है वह है स्वप्न जगत् जिसे लोग अवास्तविक जगत् बतलाते हैं । सच तो यह है कि हमारे व्यक्तित्व का ६ भाग इसी स्वप्न जगत् से प्रभावित व प्रकाशित होता है जिसका हम अभिमान करते हैं । वाह्य-जगत् में हम अपने को वैसे नहीं पाते जैसे हम हैं बल्कि जैसा संसार हमें देखना चाहते हैं । संसार को इससे मतलब नहीं कि हम क्या हैं ? जो कुछ हम हैं इसका अंकन तो हमारा स्वप्न-जगत् करता है । यही हमारे चेतन-अचेतन मन कहे जाते हैं यद्यपि हमारा अचेतन मन चेतन मन की भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है—चेतन मन को अचेतन मन में परिवर्तित करना चाहता है—पर संसार उसे ऐसा नहीं करने देना चाहता । यही अन्तर्जगत् व वाह्य-जगत् का संग्राम है जो सूक्ष्म रूप से व्यक्ति विशेष के अन्दर व स्थूल रूप से व्यक्ति के बाहर विश्व में भी हो सकता है ।

उपशुक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आत्म-निर्दर्शन के लिए स्वप्न जगत् का अध्ययन आवश्यक है । इस लेख में एक मानसिक रोगी के स्वप्न-अध्ययन द्वारा उसके आत्म-परीक्षण का प्रयास किया गया है । स्वप्न-जगत् की मानसिक प्रक्रिया को समझने के पहले सामाजिक पृष्ठभूमि समझ लेना चाहिए । रोगी का उसकी भाभी से बारह वर्ष की अवस्था से ही प्रेम हो गया था । यह प्रेम बढ़ते-बढ़ते शास्त्र-प्रेम की अवधि तक पहुँच गया पर लज्जा व संकोचवश उसकी तृप्ति न हो सकी । रोगी बुद्धिवादी है, नैतिकता की विशेष मात्रा है । वह अपने को अपनी पत्नी के लिए कलुषित न करना चाहता था । कुल स्वरूप उसने अपनी अनैतिक वाग्वना का दमन किया । स्वप्नदोष होने लगे । वह अपने जीवन से निराश होकर अपनी भाभी से बोलना छोड़ दिया । अनायास बातबात में झगड़ा मोल लेने लगा । वास्तविकता से दूर भागने के कारण पुलायनवादी-मनोवृत्ति का हो गया । उसने अपना आत्म-विश्वास खो दिया । घृणा व द्वेष प्रेम व सहानुभूति के क्रमशः विकृत स्वरूप हैं । जो व्यक्ति चेतनमन से घृणा व द्वेष करता है (दमित अवस्था में) वह अचेतन मन से प्रेम व सहानुभूति करता है पर उसे उसका ज्ञान नहीं

लिखी हुई मानी जाती हैं । वास्तव वे उसके अचेतन मन के उस भाग द्वारा लिखी जाती हैं जिसका कि मनुष्य की इच्छा शक्ति से सम्पर्क छूट गया । अग्रएव व्यक्ति अपनी ही कृति को अपने ही आप नहीं पहचानता ।

जब मानसिक उपचार द्वारा चेतन और अचेतन मन में एकता स्थापित कर दी जाती है तो इस रोग की समाप्ति हो जाती है । इसके लिये अचेतन भावना का चेतन के स्तर पर लाना और इस भावना का रोगी के नैतिक भावों से समन्वय स्थापित करना आवश्यक होता है ।

एक बात उल्लेखनीय है कि घृणा व द्वेष के द्वारा हम किसी बुरी वस्तु का त्याग नहीं कर सकते घृणा व दोष से अकारण ही दोषों से सम्बन्ध हो जाता है।

रोगी के ये स्वप्न उल्लेखनीय है—

१—मैं अपने दामाद के साथ सैर करने जा रहा था। रास्ते में एक नीबू का वृक्ष पड़ा। उसने नीचे हवा के झोंक से कई नीबू के फल गिरे थे। मैंने उनसे केवल दो नीबू माँगा। पर उन्होंने पास में पड़े पपीते का फल दिया। उन्हें लेकर मैं घर चला गया।

स्पष्ट है कि रोगी की अवृत्त वासना तृप्ति चाहती है। नीबू रोगी के भाभी की योनि का संकेत था और पपीता उसके स्तन था। रोगी अपनी काम भावना तृप्त करना चाहता था, पर बदले में उसे स्तन ही प्राप्त हुआ।

२. स्वप्न—‘कालेज की दो बालिकाएँ एक रिकशे पर सवार थी। ऊपर से मैं उनपर मुग्ध न था। ही उनमें से एक ने हमसे प्यार करने को कहा। प्रथम मैंने उसे ठुकरा दिया। पश्चात् उसने मुझे अपने घर बुलाया तो उसके प्रति मेरा आकर्षण स्वाभाविक हो गया। उक्त लड़की ने कहा ‘प्यार ही तो संसार में देता सब कुछ है।’

प्रत्यक्ष है कि जो लड़की प्यार की बातचीत करती है, वह रोगी की भाभी ही स्वयं हैं। रोगी ने को उसके प्यार को ठुकरा दिया था, रोगी अचेतन मन से अपनी भाभी को प्यार तो अवश्य करता था पर ऊपर ऐसी से प्यार ने घृणा व द्वेष का स्वरूप ले लिया था। इस स्वप्न से स्पष्ट है कि मानसिक शान्ति के लिए रोगी जीवित को अपनी भाभी से शुद्ध प्यार करना चाहिए। रोगी ऐसा कर भी रहा है।

३. स्वप्न—‘मैं कोठे पर सोया हूँ। नीचे से गॉंव का एक बनिया मुझे पुकारता है। मैं बोलने ही की। वाला था कि भाभी झट से कह देती हैं कि वह नहीं है। बनियाँ सीढ़ी से नीचे उतरता है कि मैंने उसकी जानकारी के लिए जैभाई ली। वह मुझे पहचानकर ऊपर जाता है और मेरे सिरहाने बैठ जाता है। भाभी प्रकार ने बड़े प्रेम से मुझको जल पिलाने का प्रवन्ध किया। मेरे सिरहाने रखे केबड़े जल को वह ज्यों ही समझा उठाती हैं मुझे प्यास इतनी तेज लगती है कि मुख और कंठ दोनों सूख जाते हैं। उसी क्षण संकेत से मैं जि मैंने एक प्याला माँगा उन्होंने एक के अतिरिक्त दो प्याले दिए, पर मेरी पिपासा शांत न हुई। इसी क्षण मैं बड़े मुझे शांत हुआ कि मेरी निद्रा नीचे बैठी जा रही है, मैं समाधिस्थ होता जा रहा हूँ। मैं झट उठ खड़ा जाता होता हूँ। मुझे डर लगता है कि मैं मर न जाऊँ’ स्वप्न से स्पष्ट है कि रोगी की उसके भाभी से अपार ही ला अवृत्त वासना है। वह तृप्ति चाहता है पर बदले में भाभी ने दो प्याले केबड़े के जल दिए अर्थात् दोनों स्नेह स्तन-स्पर्श कराया पर संभोग नहीं। इस प्रकार हम स्वप्न द्वारा रोगी के मन का परीक्षण कर सकते हैं।

(एक साधक)

प्रेम और मानसिक आरोग्य

“जिस तरह माता अपने आपको संकट में डालकर अपने इकलौते बेटे को बचाने की चेष्टा करती है, उसी प्रकार मनुष्यों में असीम मैत्री भाव का प्रसार हो। सारे संसार में, ऊपर नीचे और चारों ओर बिना किसी राग द्वेष और विरोध के मैत्री भाव फैल जाय। मनुष्य यदि अपनी जायतावस्था में सब समय इसी भावना को बढ़ता से धारण किए रहे तो उसे इसी संसार में अलौकिक आनन्द और पवित्रता मिले”— मित्रा सुत्ता भगवान बुद्ध वचनामृत

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक डेमेट्रीयस का कथन है कि संसार की रचना और संहार में दो सत्तायें ही काम करती हैं—एक प्रेम और दूसरी घृणा। जब संसारमें प्रेम का प्रादुर्भाव होता है और उसकी अभिवृद्धि होती है तो संसार में अनेक प्रकार की भली वस्तुओं की सृष्टि होती है, मानव जीवन रसमय दिखाई देता है और जिस ओर हमारी दृष्टि जाती है, उस ओर हम सौंदर्य का प्रसार पाते हैं। सौन्दर्य प्रेम की ही दृष्टि का नाम है। जब घृणा की वृद्धि होती है, तब आपस की फलह और फूट बढ़ जाती है, संसार की नींव को स्थिर रखने वाले अणु एक दूसरे से टकराने लगते हैं, मानव-जीवन निराशायुक्त होने लगता है। ऊपर ऐसी अवस्था में मनुष्य की दृष्टि जहाँ जाती है, उसे असौन्दर्य ही दिखाई देता है। प्रेम ही मनुष्य को रोगी जीवन रहने के लिये प्रोत्साहित करता है और घृणा उसे जीवन विसर्जित करने के लिये प्रेरित करती है। जहाँ प्रेम की वृद्धि होती है वहाँ आरोग्य की वृद्धि होती है और जहाँ घृणा की वृद्धि होती है वहाँ रोग की ही की। प्रेम जीवन देता है और घृणा मृत्यु।

संसार के कुशल मनोवैज्ञानिकों ने प्रेम की उक्त शक्ति को समझा है। अतएव उन्होंने सभी मानवीय प्रकार के रोगों के उपचार में रोगी के आसपास प्रेम का वातावरण उत्पन्न करना नितान्त आवश्यक समझा है। आधुनिक काल के उच्चकोटि के चिकित्सकों का कथन है कि मनुष्य के मन और उसके स्वास्थ्य में जितना घनिष्ठ सम्बन्ध है उसका ज्ञान साधारण डाक्टर को नहीं रहता। इसके कारण रोगी की चिकित्सा में बड़ी बाधाएँ होती हैं। अतएव प्रत्येक डाक्टर को मनोविज्ञान का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक समझा जाता है। यदि किसी डाक्टरके विचार रोगी के प्रति प्रेम और सहानुभूति के हैं तो वह रोगी को अवश्य ही लाभ पहुँचाने में समर्थ होगा। इसके प्रतिकूल यदि चिकित्सक भावहीन है, रोगीके प्रति उसके हृदय में स्नेह नहीं है तो वह रोगी का अधिक हित नहीं कर पाता। जैसे जैसे चिकित्सा का काल बढ़ता जाता है रोग भी बढ़ता जाता है।

आधुनिक काल की एक मौलिक खोज यह है कि मनुष्य के बहुत से शारीरिक रोगोंकी जड़ उसके मनमें उपस्थित मानसिक विकारों में रहती है। रोगी के मनमें अपने ही संबंधी के प्रति अथवा अपने आप के प्रति प्रबल घृणा के भाव रहते हैं, जिसका कि ज्ञान स्वयं रोगी को नहीं रहता। यही कछुपित भाव रोगी का शारीरिक रोग बनकर प्रकाशित होता है। कितने ही वैद्य और डाक्टर शारीरिक रोग के ऊपरी लक्षणोंका उपचार करते रहते हैं और रोगी के मन को जानने अथवा उसके गुप्त भावोंको परिवर्तित करने की चेष्टा नहीं करते। इससे रोगी को लाभ नहीं होता। यदि साधारण वैद्य और डाक्टर रोगी की भौतिक औषधि करते हुए उसके आन्तरिक भावों के बदलने की चेष्टा करें तो उन्हें अपने कार्य में चमत्कारिक सफलता मिले।

शारीरिक रोगों के विषय में जो कुछ भी सिद्धांत प्रति-पादित किया जाय, पर मानसिक रोगोंके विषय में तो यह पूर्ण सत्य है कि प्रत्येक मानसिक रोगी प्रेम का भूखा रहता है। इस प्रकार उसकी प्रेम की

बचपन से ही बढ़ी चढ़ी रहती है। संसार में जहाँ वह स्नेह की आशा करता था, वहाँ उसे तिरस्कार मिला। इस प्रकार उसकी आशाएँ निराशाओं में परिणित हो गई और उसके हृदय के स्नेहयुक्त उद्गार धृष्टा में परिवर्तित हो गये। जब बालक अपने आसपास के लोगों में आत्मप्रकाशन में उचित स्नेह और प्रोत्साहन नहीं पाता है तब वह निराश होकर अपने आपमें ही अपनी मानसिक शक्तियों केन्द्रित कर लेता है। इस प्रकार वह शरीर से बढ़ता है परन्तु मनसे बड़े होने पर भी बच्चा बना रहता है। उसकी बुद्धि सदा देने की न होकर लेने की ही होती है। कभी कभी बालक किसी व्यक्तिसे प्रेम प्रेम करता है और जब इस प्रेम में उसे किसी प्रकार का धक्का लग जाता है तब उसका प्रेम धृष्टा के रूप में परिणत हो जाता है। अब मनोवैज्ञानिक का कर्तव्य होता है कि बालक की इस धृष्टा को उसके चेतन मन पर लाकर फिर प्रेम में परिणत कर दे। प्रेम की रूपावत होने पर अर्थात् उसके दमित होने पर, प्रेम ही धृष्टा में परिणत हो जाता है। जब व्यक्ति इस धृष्टा के भाव को भी आत्मप्लानि के कारण भुलाने की चेष्टा करता है तब यह भाव मानव चेतना के नीचे चला जाता है। उसे रोग की स्मृति नहीं रहती। परन्तु यही भाव रोग के रूप में परिणत होकर प्रकाशित होता है। कभी कभी यह भाव मानसिक रोगों में प्रतीक रूप से प्रकाशित होता है और कभी वह शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है।

प्रेम मानसिक रोगों की एक अचूक औषधि है। जो मनोवैज्ञानिक जितना ही अधिक रोगी के प्रति स्नेह दिखाता है वह रोगी के मन में उतने ही अधिक उदार भावों का जागरण करता है। यही भाव रोगी को आरोग्य प्रदान करते हैं। मानसिक रोग, रोगी से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करके उसके हृदय को परिवर्तित करके ही समाप्त किये जा सकते हैं। आरोग्य की प्राप्ति एक रचनात्मक कार्य है। इस रचनात्मक कार्य के लिये रोगी के मनमें प्रबल स्नेह भाव उत्पन्न होना नितान्त आवश्यक है।

डा० फ्रायड ने जिस मनोवैज्ञानिक चिकित्सा पद्धतिका आविष्कार किया है, उसका सार भाग रोगों के मन में प्रेम के भावों को जगाना है। जिस मनोवैज्ञानिक ने इस मूल तत्व को पकड़ लिया, उसने अपनी चिकित्सा में मानसिक रोगियों का भारी फलदायक किया और जिसने इसे नहीं माना उसने मानसिक रोगी की सेवा में अधिक सफलता प्राप्त नहीं की। डा० फ्रायड स्वयं जड़वादी थे। उनके विचारानुसार मानव-जीवन का मुख्य हेतु सुख की प्राप्ति है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से प्रेम करता है तो उसके प्रेम के नीचे सुख की इच्छा काम करती रहती है। सब प्रकार के शारीरिक सुखों में श्रेष्ठ काम-वासना संबंधी सुख है। अतएव फ्रायड के कथनानुसार यदि दो व्यक्तियों में आपस का कोई स्नेह है तो उस अन्तिम आधार यही काम-वासना संबंधी लिप्सा की वृत्ति रहती है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार जब मनुष्य की विषय सुख की इच्छा का दमन होता है, तब वह अकारण भय, चिन्ता तथा मानसिक रोग का रूप धारण कर लेती है। जिस व्यक्ति की काम वासना की वृत्ति में कोई बाधा नहीं होती उसे मानसिक रोग नहीं होते।

काम-वासना की वृत्ति का विरोध दो प्रकार से होता है, एक तो बाह्य जगत से और दूसरे अपनी ही नैतिक बुद्धि से। बाह्य-जगत का विरोध व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य के लिये उतना घातक सिद्ध नहीं होता जितना कि मनुष्य की नैतिक-भावना का विरोध घातक सिद्ध होता है। बाह्य जगत के विरोध का विजय प्राप्त करना सरल होता है परन्तु जब मनुष्य की अन्तरात्मा ही उसे किसी कार्य के लिए कोसे तब उसे शान्ति कैसे मिल सकती है? जो नैतिक बुद्धि मनुष्य की काम-वासना का विरोध करती है, वह स्व मनुष्य की इच्छा शक्ति को पहुँच के बाहर रहती है। अतएव उसमें परिवर्तन करना भी रोगी के लिये

संभव नहीं है। इस सिद्धान्त को मानकर फ्रायड महाशय के अनुयायी मानव जाति को सलाह देते हैं। नैतिकता के प्रतिबंध ही शिथिल कर दिये जाँय। फ्रायड के कथनानुसार नैतिकता स्वयं ध्वंसात्मक मानव-प्रकृति है। इसीसे अपने प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होता है। यह मनुष्य की भोग वृत्ति में रुकावट डाल कर उसे रोगी बनाती है। मानसिक चिकित्सक रोगी की नैतिक भावनाओं को धीरे-धीरे शिथिल करके उसकी दलित भोग वासनाओं को चेतना की सतह पर लाता है और इस प्रकार इसे रोग से मुक्त करता है। इससे रोगी की काम वासना के प्रसार के साथ साथ उसके प्रेम का भी प्रसार होता है।

रोगी का दलित प्रेम अर्थात् उसकी काम-वासना जब पहले पहल अचेतन मनसे चेतना के स्तर पर आती है तो वह चिकित्सक पर ही आरोपित हो जाती है। इस तरह रोगी अपने दलित भाव से मुक्त होने पर चिकित्सक के ही प्रेम में फस जाता है। यह प्रेम का विलक्षण प्रकाशन हिस्टीरिया के रोगियों में विशेष कर देखा जाता है। इस प्रकार की घटनाओं से फ्रायड महाशय ने निष्कर्ष निकाला है कि सभी प्रकार का प्रेम वासना युक्त रहता है और बिना वासना के न तो पिता पुत्र का, माँ बेटे का, भाई बहिन का, मित्र-मित्र का और न भक्त और भगवान का स्नेह संभव है।

फ्रायड महाशय के उक्त विचार एकांगी हैं। मनुष्य किसी भी व्यक्ति को स्नेह करने लगता है, जब कि उससे उसकी स्वार्थ की पूर्ति होती है। यह स्वार्थ की पूर्ति चाहे काम वासनात्मक हो अथवा अन्य किसी इच्छा संबंधी। परन्तु प्रेम और वासना एक ही वस्तु नहीं है। वासना का उद्देश्य अपने सुख के लिये कष्ट उठाना होता है और प्रेम का उद्देश्य दूसरे के हित के लिए अपने सुख का त्याग करना और दूसरे के लिये कष्ट उठाना होता है। जहाँ त्याग भावना नहीं है वहाँ प्रेम होना संभव नहीं है। यदि मानव जीवन में किसी प्रकार का सुधार होता है, उसमें आनन्द की वृद्धि होती है तो उसका आधार त्यागमय प्रेम होता है। जहाँ वासना की वृद्धि होती है मनुष्य के स्वार्थ परायणता की वृद्धि होती है और स्वार्थ परायणता मनुष्य को उदार बनाकर संकीर्ण बनाती है वह शरीर से सीमित कर देती है। शरीर से सीमित होना ही एक प्रकार का मानसिक रोग है। सामाजिक नियम और नैतिकता मनुष्य को इस भावात्मक संकीर्णता से मुक्त करता है। अतएव इनका अनुशासन मनुष्य की आत्मा के विकास के लिये नितांत आवश्यक है।

हम चार्ल्स युंग महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य देखते हैं कि मनुष्य के स्वभाव में नैतिकता उसी प्रकार निहित है जिस प्रकार वासना उसके स्वभाव में निहित है। मानसिक रोगों का प्रधान कारण नैतिक बुद्धि के विरुद्ध आचरण करना होता है। जब मनुष्य स्वच्छन्दता पूर्वक अपनी वासनाओं की तृप्ति में लग जाता है तब वह अपने व्यापक स्वत्व की अवहेलना करता है, यह व्यापक स्वत्व ही नैतिक बुद्धि का रूप लेता है। नैतिक बुद्धि द्वारा दंडित होना अपने उच्च स्वत्व की माँग है। किसी भी स्वार्थ मय काम करने के लिये मनुष्य समाज द्वारा, राज्य द्वारा, प्रकृति द्वारा, अथवा अपनी नैतिक बुद्धि द्वारा ही दंडित होता है। इस प्रकार का उसे दंड पाना उसके आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक है। मानसिक रोग स्वयं मानसिक अशान्ति को चिकित्सा है। रोगी मनुष्य इन रोगों से परेशान हो जाता है। वह रोगों से घृणा करता है परन्तु उसकी उसी प्रकार की परेशानी है जिस प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्र में भूल करने वाले व्यक्ति दंड देनेवाली सत्ता से करते हैं। दण्ड, दण्डित व्यक्ति को कब प्रिय लग सकता है। जब दण्डित व्यक्ति अपने दण्डको कल्याणप्रद मानने लगता है तब उसे दण्ड की आवश्यकता ही नहीं रहती। मानसिक चिकित्सक का प्रमुख कार्य रोगी को स्नेह पूर्वक आत्म स्वीकृत कराकर उसके मन को उसके लिये भला बना देना है। जब चिकित्सक और रोगी में सहानुभूतिका भाव रहता है तो

का इस प्रकार का मन बनना सरल हो जाता है चिकित्सक के स्नेह से रोगी अपने आप में एक न उत्साह का अनुभव करता है और रोग के कारण अपने आप को अभागा न मान कर अपने को सामर्थ्यवान् व्यक्ति मानने लगता है। चिकित्सक का स्नेह रोगी को आत्मविजय प्राप्त करनेमें और अपने कमजोरियों के प्रति आँख न मूँदकर उनपर अधिकार प्राप्त करने में सहायक होता है।

किसी व्यक्ति को प्रोत्साहित करने के लिए उससे सहानुभूति रखनेवाले व्यक्ति को उसके दुख स्वयं अनुभव करना पड़ता है। जब चिकित्सक रोगी के प्रति त्याग भाव दिखाता है, तब रोगी स्वयं अपने आप में नये सामर्थ्य का उदय देखता है। इस तरह संसार के सबसे बड़े चिकित्सक वे लोग हैं जिन्होंने मानव जाति के कल्याणार्थ अपना सभी कुछ त्याग दिया। जिनके रोम-रोम में प्राणिमात्र के लिए स्नेह भरा हुआ है और जो सभी प्राणियों के लिए इस प्रकार सहायता देने के लिए तैयार रहते हैं, जिस प्रकार माता अपने बच्चे के लिए सहायता देने के लिए सदा तैयार रहती है। इस प्रकार के प्रेम वासना की वृद्धि नहीं वरन् उसपर विजय की आवश्यकता होती है और मनुष्य इस प्रकार के प्रेम से वासना पर विजय प्राप्त करने से समर्थ होता है। इस प्रकार मानव जाति के प्रति प्रेम संसार के सभी महात्माओं ने दर्शाया है। भगवान् बुद्ध, हजरत, ईसा, सेण्ट बर्नार्ड, सेन्स फ्रांसिस्, भगवान् चैतन्य महाप्रभु और रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी रामतीर्थ के जीवन को यदि हम देखें तो हम वास्तविक प्रेम के स्वरूप को सरलतासे पहचान सकेंगे। इसी प्रकार के प्रेम से न केवल मानसिक रोगियों को लाभ हो जाता है, वरन् प्रत्येक निराशायुक्त व्यक्ति के जीवनमें नव-प्राण का संचार हो जाता है। डा० विलियम ब्राउन ने इस प्रकार के महात्माओं को आरोग्य प्रदान करने की महत्ताको दर्शाते हुए अपनी पुस्तक 'साइकोलाजी एण्ड साइकोप्रेपी' में लिखा है कि ऐसे व्यक्ति के दर्शन और स्पर्शमात्र से जटिल से बकि मानसिक रोग ही नहीं, वरन् शारीरिक रोग भी पल भर में समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार की घटना सामान्य दृष्टि से चमत्कार अवश्य है, परन्तु ये चमत्कार विज्ञान विरोधी नहीं है।

प्रेम का सच्चा स्वरूप सेण्ट बर्नार्ड ने अपने निम्नलिखित शब्दों में बताया है—'प्रेम का न अपने से अतिरिक्त कोई कारण होता है और न फल। प्रेम स्वयं ही अपना फल है। मनुष्य की आत्मा में जितनी हलचल और भावनाएँ आती हैं, उनमें प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा वह परमात्मा की साक्ष्यता प्राप्त करता है और उसने जो कुछ मनुष्य को दिया है उसके बदले में उसे कुछ लेता है जब परमात्मा मनुष्य से प्रेम करता है तो उससे प्रेम पाने की इच्छा रखता है क्योंकि वह जानता है कि प्रेम ही उससे प्यार करनेवाली वस्तु को सुखी बनाता है।'।

मानव जीवनका वास्तव में सारभाग प्रेम है। प्रेम ही सब सद्गुणों का उद्गम है। सभी भलाइयों का मूल स्रोत प्रेम है। जब मनुष्य प्रेम से प्रेरित रहता है, तब वह अपने कष्ट को ही भूल जाता है। बहुत दिन तक रोगग्रस्त व्यक्ति जब किसी कारणवश प्रेम से प्रेरित हो जाते हैं, तों एकाएक अपने रोग को ही भूल जाते हैं और आश्चर्यजनक बातें कर डालते हैं।—मानसिक रोगियों के उपचारार्थ उनमें यहाँ सुझाव देना सर्वोत्तम है कि वे अपने ही विषय में सब समय चिन्तन न करके संसार के दूसरे लोगों के विषय में चिन्ता करने लग जायें। जब हम संसार के दुखियों के दुख निवारण में संलग्न हो जाते हैं तब हम न केवल अपने दुखों को भूल जाते हैं वरन् उन दुखों से मुक्त भी हो जाते हैं।

मनुष्य के सभी प्रकार के रोग की जड़ उसके मन में रहती है। जो व्यक्ति अपने रोग का जितना अधिक स्मरण करते रहता है, वह उसे उतना ही स्थायी बनाये रखता है। जो रोगी अपने रोग के बहुत बड़ा चढ़ाकर कहता है, वह वास्तव में उससे मुक्त नहीं होना चाहता वह दूसरों का ध्यान कि

बच्चे के व्यवहार में सुधार

बच्चे के व्यवहार में सुधार करना एक महत्व का मनोवैज्ञानिक कार्य है। जो लोग बच्चे के व्यवहार को बिना उसके मनको समझे सुधारना चाहते हैं वे बालक के प्रति प्रायः अन्याय कर डालते हैं। वे उसका कल्याण न कर उसे जटिल अथवा रोगी व्यक्ति बना देते हैं। आधुनिक मनोविश्लेषण विज्ञान ने बच्चे की वाह्य क्रिया कलाओं पर और उसके मन की गुप्त क्रियाओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। कोई भी बालक जटिल आचरण सुखी मन से नहीं करता। जब बालक का मन असन्तोष की अवस्था में होता है तभी बालक के आचार-व्यवहार विकृत हो जाते हैं। इनके सुधारने के लिये बड़ी कुशलता से काम लेना आवश्यक है। कुशल शिक्षक बालक के सुधारने के लिये बड़ी काम करता है जो कुशल मानसिक चिकित्सक रोगी को आरोग्य बनाने के लिये करता है। बालक के मानसिक असन्तोष को हम जितनी भली प्रकार से हटावेंगे उसे हम उतना ही भला बनावेंगे।

मानसिक असन्तोष बाल, युवा और वृद्ध सभी को होता है। असन्तोष का कारण भी एक ही होता है और वह है मनुष्य की प्रबल इच्छाओं अथवा आकांक्षाओं का दमन। इस दमन के कारण मनुष्य जीवन से निराश हो जाता है। इसके कारण वह रोग का आवाहन करने लगता है जिससे स्मृति का हास हो जाता है और चित्त की एकाग्रता जाती रहती है। इसीके कारण विद्यार्थी ठीक परीक्षा के समय बीमार पड़ जाता है! यदि इस दमनका कारण अभिभावक में हुआ तो बालक बीमार बनकर अभिभावकसे बदला ले लेता है। इन बातों को उसका चेतन मन नहीं जानता। यह अचेतन क्रिया होती है। जब दमन का कारण मनुष्य के अहंकार में होता है तब रोग अहंकार से ही बदला लेता है।

बच्चों के मानसिक असन्तोष का कारण अधिकतर उनके अभिभावकों का वह व्यवहार रहता है जो बच्चों के प्रति वे करते हैं। जब बच्चे के आत्मसम्मान की भावनाकी अवहेलना की जाती है, जब उसके प्रति प्रेम में कमी रहती है तो वह अभिभावक को किसी न किसी प्रकार तंग करने लगता है और वह हठी, उद्दंड अथवा रोगी बन जाता है। कभी कभी स्नेह की कमी के कारण विद्यार्थी पढ़ाई में पिछड़ने लगता है। यही नहीं वह परीक्षा के समय बीमार हो जाता है अथवा परीक्षा में फेल भी हो जाता है।

हमारी चिकित्सा में आनेवाला एक सात वर्ष का बच्चा इतना विलक्षण था कि उसे जो कुछ कहा जाता था वह उसका ठीक उल्टा करता था। उसे जो बात बतायी जाती उसकी उलटी ही बात उसे याद रहती। यदि उसे कोई अक्षर सिखाया जाता तो उसे उस अक्षर का उल्टा ही रूप याद रहता। उसके माता पिता उससे परेशान थे। कारण खोजने पर पता चला कि उस लड़के को पिता का पूरा प्रेम नहीं

न किसी प्रकार आकर्षित करना चाहता है। बिना इस स्नेह के मिले उससे यदि रोग छिना लिया जाय तो उसकी वही गति होगी जो अन्धे से उसकी लकड़ी छिनाने से उसकी होती है। स्नेहहीन व्यक्ति के जीवन का आधार उसका रोग रहता है। रोग के चले जानेपर कभी-कभी इस प्रकार के व्यक्ति आत्महत्या कर डालते हैं। अतएव रोग का वास्तविक उपचार रोगी से रोग छिपाना नहीं है, वरन् उसे उस आधार को दे देना है, जिसके अभाव में वह रोगी बन गया है। यह जीवन आधार सभी मनुष्यों का प्रेम है। सच्चा प्रेम आरोग्यदायक ही नहीं जीवन दायक भी होता है।

—श्री लालजीराम शुक्ल

रस था। इस लड़के की चिकित्सा के लिए उसके पिता को शिक्षा देनी पड़ी। हठीले पिता के बच्चे हठीले हो जाते हैं।

जिस घरमें माता-पिता में झगड़ा होता है वहाँ भी बच्चे जटिल हो जाते हैं। बच्चा स्वभाव से माताका पक्ष लेता है। वह माता का अपमान नहीं सह सकता और जब माता को पिता त्रास देता है तो बच्चा रोगी, उदण्ड अथवा मंद बुद्धि बनकर पिता से उसका बदला लेता है।

यही नहीं, हम देखते हैं कि जिस प्रकार बच्चों का मानसिक असन्तोष के कारण रोग हो जाते हैं उसी प्रकार लियों को भी त्रास के वातावरण के कारण हिष्टीरिया, भ्रूक, स्मृति हास, अकारण भय आदि मानसिक रोग और सिर की पीड़ा, दमा और आँख की पीड़ा आदि के शारीरिक रोग हो जाते हैं। इनमें से बहुत से शारीरिक रोग मानसिक ही रहते हैं। जब कभी हम किसी रोगी के बाहरी रूपको अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा देखें, जब हम देखें कि रोगी अपने रोग की चर्चा दूसरों से अत्यधिक करता है अथवा दूसरों के सामने उसका रोग बढ़ जाता है तो हमें जान लेना चाहिये कि उसका रोग मानसिक है। उसकी उत्पत्ति मानसिक असन्तोष से कारण हुई है। ऐसा रोगी औषधि नहीं चाहता, सहानुभूति चाहता है।

कितने ही अभिभावक और शिक्षक कठोर अनुशासनमें विश्वास करते हैं। रोमन कैथोलिक लोगोंका विश्वास है कि बालक जन्म से ही पाप लेकर आता है उसे पीट-टीट कर ही पाप से मुक्त किया जा सकता है। बालक में जन्मजात कुप्रवृत्तियाँ हैं, इन कुप्रवृत्तियोंको नष्ट करने के लिए बालककी ताड़ना नितान्न आवश्यक है। अतएव रोमन कैथोलिक पाठशालाओं में बड़ा कठोर अनुशासन का वातावरण रहता है। इस प्रकारके अनुशासन से मानसिक रोगों की वृद्धि होती है।

अच्छा अनुशासन रचनात्मक है। बच्चे को किसी रचनात्मक कार्य में लाकर हो उसके मानसिक असन्तोष को हटाया जा सकता है। रोगी बच्चे के विषय में तो हमें स्नेह से ही काम लेना पड़ेगा। कठोरता से रोग घटता नहीं अपितु बढ़ जाता है।

एक बार एक जटिल बालक का उपचार हो रहा था। बालक सभी अधिकारियों को अपना शत्रु समझता था। उसके मन में अपने पिता के प्रति बड़ी घृणा की भावना थी। पिता स्वयं एक अधिकारी थे। वह पुस्तक प्रेमी थे, अतएव बच्चे के मन में पुस्तकों के प्रति घृणा की भावना हो गयी थी। वह पुस्तकें फाड़ डालता था। जब उसको इस मानसिक मुक्ति का निराकरण हो रहा था उस समय वह एक बार मेरे पास दौड़ता दौड़ता आया और उसने मेरे दोनों कान पकड़ लिये। उसके पिता ने उसका यह व्यवहार देख लिया और उसे एक तमाचा जड़ दिया। इसका प्रभाव बच्चे पर बहुत बुरा पड़ा। महीनों का काम गुड़ गोबर हो गया। उसकी घृणा की भावना प्रबल हो गयी और उसका रोग बढ़ गया।

बच्चों के मानसिक असन्तोष को हटाने का एक उपाय उन्हें बाहर घूमने ले जाना है। यदि बच्चे किसी म्यूजियम में जायें और वहाँ की चीजों के बारे में पूछें तो इससे न केवल उनकी बौद्धिक शिक्षा होती है वरन् उनके दबे भावों का रचन भी होता है। उनमें इससे स्वाभिमान और आत्मविश्वास बढ़ता है।

बच्चों के किस्से कहानियों का ध्यान से सुनना चाहिये। उन्हें बातचीत करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। बच्चेकी आत्मा पिंजड़े में बन्द पंखों के समान फड़फड़ाया करती है। यदि कोई व्यक्ति उसको बोलने का अवसर देता है वह उड़ने के लिये अवसर देता है। ऐसे व्यक्ति को बच्चा प्या करने लगता है।

बच्चे के असन्तोष को हटाने का सर्वोत्तम उपाय उसे स्नेह और सहानुभूति प्रदान करना है। यदि रोगी बच्चा है तो उससे बातचीत करने लग जाना चाहिये, उसकी बातें ध्यानपूर्वक सुननी

मानसिक व्याधियों के हटाने के मनोवैज्ञानिक उपाय

मानसिक व्याधियों को हटाने के अनेक प्रकार के उपायों का आविष्कार आधुनिक काल में हुआ है। इन उपायों में कुछ उपाय दमनात्मक हैं और कुछ प्रकाशनात्मक। सभी मानसिक व्याधियों के मूल में मानसिक आशान्ति रहती है। इस आशान्ति को मुलाने के लिये मनुष्य किसी प्रकार का नशा करने लगता है अथवा किसी प्रकार के व्यसन में पड़ जाता है। शराब पीना, अफीम खाना, गोंजा पीना, बीड़ी सिगरेट पीना, सिनेमा देखने की लत डालना, वैश्यागमन आदि सभी बातें मानसिक असन्तोष को मुलाने के उपाय हैं। जिस मनुष्य को अधिक मानसिक असन्तोष रहता है वह अपनी नींद खो देता है। ऐसे रोगी को नींद लाने के लिये औषधियाँ दी जाती हैं। मानसिक असन्तोष मानसिक व्याधियों में परिणत हो जाता है। जब मनुष्य अपनी आन्तरिक भावनाओं को न केवल दूसरों से बरन् अपने आपसे भी छिपाने की चेष्टा करता है तब उसे मानसिक व्याधि हो जाती है। इस प्रकार की व्याधियों के द्वारा, इंजेक्शन के द्वारा, बिजली के झटकों के द्वारा हटाने की चेष्टा की जाती है। कभी-कभी संमोहन के द्वारा मानसिक व्याधि को हटाने की चेष्टा की जाती है। ये सभी उपाय दमनात्मक और अमनोवैज्ञानिक हैं। इनसे को लाभ होता है थोड़े समय रहता है। परन्तु रोगी की मानसिक स्थिति में सुधार न होने के कारण उसका रोग जहाँ का तहाँ रह जाता है। हटना ही नहीं इन उपायों के बार-बार प्रयोग करने से रोगी का आत्म-विश्वास ही नष्ट हो जाता है। उसकी इच्छा शक्ति दुर्बल हो जाती है और वह बाहरी चिकित्सक पर अपने आपको आश्रित कर देता है। सच्चे मनोवैज्ञानिक उपचार से रोगी की दमित भावनायें चेतना की सतह पर आती हैं, उसमें आत्मविश्वास बढ़ता है, उसकी इच्छा शक्ति बलवान होती है और वह अपने आपपर निर्भर करना सीखता है।

आधुनिक मनोविश्लेषण विधि का मूलाधार रोगी को अपने भावों को प्रकाशित करने का अवसर देना है। इसमें चिकित्सक को सावधानी से बरतना पड़ता है। रोगी के भाव चिकित्सक के प्रति बदलते रहते हैं। वह कभी-कभी अपने चिकित्सक को देवता के समान मानने लगता है और कभी-कभी वह उसे इतनी घृणा से देखने लगता है कि उसे मारने को भी तैयार हो जाता है। वास्तव में यह उसके दवे भावों का आरोपण है। यदि रोगी अपने क्लुषित भावों को किसी व्यक्ति पर आरोपित न करे तो वह स्वास्थ्य लाभ भी न कर सकेगा। अतएव इसके लिए चिकित्सक को सदा तैयार रहना चाहिये।

रोगी का चिकित्सक के प्रति सदा द्विविधा का भाव बना रहता है। कभी वह उसे बहुत प्यार करता है तो कभी घृणा। परन्तु इसी प्रकार अपने दवे भावों को प्रकाशित करके रोगी अपने रोग से मुक्त होता है। पूर्ण स्वास्थ्य लाभ करने पर रोगी अपने चिकित्सक को न अधिक प्रेम ही करता है और न द्वेष।

मानसिक चिकित्सा में प्रधान बात रोगी को अधिक अपने आपको प्रकाशित करने का अवसर देना है। जिस प्रकार बृद्ध पुरुष सदा अपनी ही बातें दूसरों को सुनाना चाहते हैं, इसी प्रकार रोगी भी अपनी ही बात दूसरों को सुनाना चाहता है। बृद्ध व्यक्ति से स्नेह प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय बिना आलोचना के और बिना बीच में टोके उसकी बात सुनते रहना है। यदि कुछ पूछा जाय अथवा आलोचना भी

चाहिये। यदि हम बच्चे के साथ बच्चा बन कर उसी के खेल खेलने लगे तो बच्चा शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ कर लेगा। चित्रकारी, कला, संगीत में यदि बालक लग जाय और हम उसकी कृतियों को प्रोत्साहन दें तो बालक का रोग सदा के लिए लुप्त हो जाता है।

—श्री योगेन्द्रनाथ मिश्र

बचपन के संस्कार और आरोग्य

प्रत्येक व्यक्ति को अपने आस-पास के वातावरण से अपना समन्वय स्थापित करना पड़ता है, और अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। जब कोई व्यक्ति अपने वातावरण से समन्वय स्थापित नहीं कर पाता अर्थात् परिस्थितियों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता तब उसमें पलायन की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। वह ऐसी अवस्था में या तो उपस्थित वातावरण से दूर भाग जाता है अथवा वह अपना आचरण इस प्रकार करने लगता है कि उसे वातावरण की उपस्थिति का लाभ ही न हो। मनोज्ञात रोग अप्रिय वातावरण से अथवा परिस्थितियों से बचने के उपाय है। इस प्रकार की रूग्णवस्था में मनुष्य का व्यवहार असाधारण होता है। ये मनोज्ञात रोग कई प्रकार के होते हैं: उदाहरणार्थ, व्यवहारिक लकवा, व्यवहारिक अन्धापन, कब्जियत, तथा हठी विचार। ये रोग वास्तव में शारीरिक रोग नहीं हैं; ये व्यक्तित्व के अव्यवस्था और विकार हैं।

मनोवैज्ञानिकों के समक्ष इनके कारण खोजने का जटिल प्रश्न आता है। हमें यह जानना आवश्यक है कि कोई रोगी विशेष प्रकार के रोगों से ही क्यों पीड़ित होता है। किसी को हिस्टीरिया

की जाय तो वह बोलने के लिए प्रोत्साहन देने के हेतु हो। इसी प्रकार रोगी से भी ऐसे ही प्रश्न किए जायें जिनसे वह अपना दिल अधिक से अधिक खोले। जितना रोगी बातचीत करेगा अर्थात् अपने ही बोलने का उसका रोग उतना ही कम होगा। उसके मानसिक असन्तोष को हटाने का यही सर्वोत्तम उपाय है।

मानसिक रोगी के बहुत से भाव कलुषित होते हैं। यही उसके रोग का कारण होते हैं। इन कलुषित भावों को सुधारने की चेष्टा सभी लोग करते हैं कभी-कभी स्वयं रोगी उन्हें बुरा समझता है। वह अपना सुधार चाहता है। परन्तु न तो दूसरी की शिक्षा का और न स्वयं प्रयत्न का कोई उपयोग परिणाम मानसिक रोग के हटाने में होता है। मानसिक चिकित्सक पहले पहल रोगी को अपने कलुषित विचारों को प्रकाशित करने का मौका देता है। वह रोगी के साथ सहानुभूति दिखाना चाहेगा उसके विचार कितने ही बिगड़े क्यों न हों। पीछे वह उनमें सुधार करने की चेष्टा करता है। रोगी के कलुषित भाव प्रकाशित होकर निर्बल हो जाते हैं। दूसरे उनके प्रकाशन का अवसर देने से रोगी के मन पर चिकित्सक का अधिकार हो जाता है। फिर वह जिस ओर चाहे रोगी के मन को मोड़ दे सकता है। प्रारम्भ से ही रोगी को दोषी मानने लग जाने से हम रोगी में सुधार की क्षमता को ही खो देते हैं। पहले रोगी के असन्तोष का कारण हटे तब उसमें सुधार हो।

मानसिक असन्तोष को हटाने का एक उपाय अकेले में बातचीत करना भी है। इस उपाय के प्रत्येक व्यक्ति काम में ला सकता है। यदि अपने असन्तोष को बताते हुए किसी कल्पित व्यक्ति को लक्ष्य पत्र लिखे जायें तो भी मानसिक असन्तोष हट जाय और मनुष्य के बहुत से शारीरिक और मानसिक रोग नष्ट हो जायें।

मनुष्य का मूल रोग असन्तोष है! बाहरी रोग उसके लक्षण मात्र हैं और असन्तोष का प्रभाव कारण किसी प्रकारकी प्रेमकी कमी होती है चाहे यह व्यक्तिगत प्रेम हो अथवा समाज का। प्रेम की पूर्ति से ही रोग जाते हैं। रोगी की बात सहानुभूतिपूर्वक सुनना ही अपने उसके प्रति प्रेम का परिचय देता है। इस प्रकार का प्रेम रोग के मूल को नष्ट कर देता है। फिर मनुष्य का मन रचनात्मक काममें लग जाता है।

—श्री योगेन्द्रनाथ मि

होता है, तो किसी को आँख का रोग, किसी को हाथ धोने का भ्रूण होता है तो किसी को धार्मिक भ्रूण । प्रत्येक प्रकार का मानसिक रोग ऊपर से शारीरिक रोग जैसा ही लगता है, परन्तु भीतर से शारीरिक रोग से वह भिन्न रहता है । शारीरिक रोग की अवस्था में रोगी के अंग में वास्तविक कोई खराबी हो जाती है, मनोजात रोग में मनुष्य के किसी अंग में कोई खराबी न होकर भी उसे वह काम में नही ला पाता । आँख, अच्छी होते हुए भी देख नहीं सकता, पैर अच्छा होते हुए भी चल नहीं सकता । पहलवान होते हुए भी अकेले रहने में डरता है और परीक्षा की ठीक से तैयारी होने पर भी वह परीक्षा देते समय बीमार हो जाता है । इस प्रकार के रोगों की जड़ मनुष्य के शरीर में नहीं रहती वरन् उसके मन में रहती है । ये रोग भावों की गड़बड़ी से होते हैं ।

उपयुक्त मानसिक रोगों का कारण किसी प्रकार का मनुष्य के मन पर अथवा हृदय पर घका लगना अवश्य होता है । जब कभी किसी व्यक्ति को मानसिक रोग होता है तो उसके पूर्व हम किसी ऐसी घटना को होते हुए पाते हैं जिसमें उसके भावों में भारी उथल-पुथल हुई है । परन्तु यदि केवल इस प्रकार की घटना ही मानसिक रोग का कारण होती तो सभी को मानसिक रोग एक ही प्रकार के होते । परीक्षा में फेल होने से एक विद्यार्थी इतना घबड़ा जाता कि है वह आत्म-हत्या करना चाहता है अथवा वह अपनी नींद ही खो देता है और दूसरा फेल होने पर फिर से पढ़ने लगता है अथवा अपनी आजी-विका का नवीन साधन प्राप्त करता है । एक व्यक्ति मोटर की दुर्घटना अनुभव करने पर मोटर पर चढ़ने से डरने लगता है अथवा घर से बाहर निकलने में डरता है और दूसरा किसी से नहीं डरता है । एक ही घटना दो व्यक्तियों के जीवन में भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम क्यों उत्पन्न करती हैं । इस प्रश्न के उत्तर खोजने पर हमें वचपन के संस्कारों का महत्व प्रत्यक्ष होने लगता है ।

जिस व्यक्ति का स्वभाव पहले से ही निर्बल हो गया है, जिसकी मानसिक बनावट दुर्बल है, वह साधारण सी घटनाओं से भी अत्यधिक प्रभावित हो जाता है । कुछ लोग जन्म से ही भावात्मक स्वभाव के होते हैं परन्तु यदि उनके जीवन में विशेष प्रकार की अप्रिय घटना न घटे तो उनका स्वभाव उनके जीवन के लिये हानिकर नहीं होता । आधुनिक काल के सभी मानसिक चिकित्सकों का कथन है कि वचपन के प्रिय अथवा अप्रिय अनुभव ही उन प्रवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं जो आगे चलकर रोग बन जाती हैं । मानसिक चिकित्सक इस बात में एक मत नहीं रखते हैं कि किस प्रकार के अनुभव से मनोजात रोग उत्पन्न होते हैं । डा० फ्रायड के अनुसार बच्चे की काम वासना सम्बन्धी हन्छाओं के दमन के कारण ही ये मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं । जिस बालक को पिता का अत्यधिक भय होता है, उसकी कामवासना दमित हो जाती है । फिर यह वासना प्रतीक रूपसे मानसिक रोगी के वाच्य आचरण और शारीरिक रोगों में प्रकाशित होती हैं । इस तरह फ्रायड महाशय के कथनानुसार प्रत्येक मानसिक रोगी के अचेतन मन में नपुंसक बनाये जाने का भय रहता है, जिसका कारण बालक के प्रति पिता का कटोर व्यवहार रहता है ।

एडलर महाशय मानसिक रोगों का प्रधान कारण हीनता की मानसिक ग्रंथि की उपस्थिति मानते हैं । बालक के मन में इस प्रकार का हीन भाव किसी प्रकार की कमी की अनुभूति करने से होता है । जिस व्यक्ति के मन में हीनभाव रहता है वह अनायास ऐसे काम में अपने को लगाता है जिसका पूरा करना उनके सामर्थ्य के बाहर होता है । जब ऐसे कामों में उसे असफलता मिलती है तो वह किसी प्रकार के मानसिक रोग अथवा मनोविकारजनित शारीरिक रोग की शरण लेता है । इस प्रकार वह अपनी ही असफलता को अपनी दृष्टि से ओझल करने की चेष्टा करता है ।

मनोविज्ञान

सभी मनोवैज्ञानिक इस मत को मानते हैं कि माता-पिता और बच्चे के आपस के सम्बन्ध में होने के कारण अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। प्रो० हेडफील्ड के कथनानुसार सभी मनोवैज्ञानिकों का आधारभूत कारण बच्चे में प्रेमभाव की कमी रहती है। ऐसे रोगी में प्रेम की मूल्य उसके अचेतन में दमित अवस्था में रहती है। हेडफील्ड का यह मत डा० फ्रायड के मत के समान ही है। परन्तु उन मत में मौलिक भेद भी इस बात में है कि फ्रायड महाशय सभी प्रेम को कामुक मानते थे और हेडफील्ड ऐसा नहीं मानते थे। प्रेम न केवल कामुक है परन्तु रक्षणात्मक भी है। बालक रक्षणात्मक प्रेम का प्रतीक प्रेम की अपेक्षा अधिक मूला होता है और उक्त प्रेम का अभाव ही मनोविकारजनित रोगों का प्रमुख कारण होता है।

प्रत्येक बालक बड़ों की रक्षा की आवश्यकता रखता है; अतएव वह बड़ों के प्रेम का मूला रखता है। साधारणतः बच्चे की इस आवश्यकता की पूर्ति माता करती है। वह बच्चे की सब प्रकार से रक्षा करती है और उसके लिये प्रेम का वातावरण उपस्थित करती है। इसके कारण माँ के प्रति बच्चे के मन में प्रेम की मूल्य उत्पन्न हो जाती है। माँ बच्चे की न केवल रक्षा की आवश्यकता की पूर्ति करती है वरन् उसको आलिंगन का सुख भी देती है। जब बच्चा को इस प्रकार के प्रेम प्राप्ति में सन्देह हो जाता है तो उसके जीवन में भावात्मक दुर्घटना की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

जब बच्चे को बड़ों का उचित प्रेम मिलता है तब उसमें निर्भीकता और आत्मविश्वास की भाव उत्पन्न हो जाती है। जब स्नेह और आराम के वातावरण में बच्चा रहता है तब वह अपनी परिस्थितियों को विजय प्राप्त करने के लिये अनेक उपाय रचता है। उसमें साहसका भाव भरा रहता है और वह जो भी उसे अपने आपको डालने से नहीं डरता। यदि किसी बच्चे को समय के पूर्व अपने पैरों पर खड़े होने के लिये बाध्य होना पड़े तो वह इससे बली व्यक्तित्व का व्यक्ति न बनकर चिन्ताग्रस्त व्यक्ति बनेगा; न उसे अपने प्रति आत्म-विश्वास होगा और न साहस। जब बालक को सम्मानित लोगों का प्रेम मिलता है तो वह उन्हें प्यार करने लगता है और उनसे वह आत्म-सात करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार वह मन से स्वस्थ हो जाता है। उसकी इच्छा शक्ति बली और उसका चरित्र दृढ़ होता है। यदि किसी बालक को इस समय बड़े का प्रेम न मिले अथवा उसे अनुभव हो कि मुझे मेरे निकटसम्बन्धी प्यार करने दो तो वह अपने आचार-व्यवहार में असाधारण बन जाता है। जब किसी बालक को प्रेम नहीं मिलता तब उसका मानसिक विकास रुक जाता है, वह जीवन में नये प्रयोग नहीं कर पाता और नई कठिनाई का सामना करने से डरता है। प्रेमहीनतासे बच्चे के मन में स्वभावतः चिन्ताये उठती हैं। उसका अनेक प्रकार के भयों से भर जाता है। वह जीवन की कठिनाइयों से भागता है और उनके उत्तरदायित्व का भार सहन नहीं करता। इस प्रकार वह मानसिक रोग की तैयारी स्वयं कर लेता है।

जब बच्चे को बड़ों का उचित प्रेम नहीं मिलता तो वह आत्मप्यार करने लगता है। इस प्रकार वह स्वार्थी बन जाता है। ऐसे ही बालकों में स्वआश्रित कामक्रीयाओं की आदत पड़ जाती। प्रेम के मिलने पर बालक के जीवन में सुदृढ़ उद्देश्य का विकास होता है। यदि प्रेम के वातावरण बालक नहीं पले तो जो उसके कोई आदर्श होते हैं उनके द्वारा उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियों का दसन हो जाता है और इस प्रकार ये आदर्श विक्षिप्तता की ओर ले जाते हैं।

कुछ लोगों के जीवनमें बचपन में प्रेमाभाव के कारण ही नहीं बल्कि प्रेम की अधिकता के कारण मानसिक रोग की उपस्थिति होती है। लाडला बालक बहुधा मानसिक रोगी हो जाता है। परन्तु मानसिक रोग की उत्पत्ति का कारण बालक के प्रति किये गये लाड की अनुभूति नहीं है वरन् उसके बाद होने का

निराशा की अथवा प्रेम के अभाव की अनुभूति इसका कारण होती है। यह प्रेम के खो जाने की अनुभूति ही बालक को निराश, भयातुर और दैन्यभाव युक्त बना देती है लाड़लेपन से बालक में अहंकार, स्वार्थीपन हट आदि उत्पन्न होते हैं। परन्तु इससे विक्षिप्तता अथवा मनोज्ञात रोग उत्पन्न नहीं होते। जब बालक को लाड़ में रहने के बाद प्रेमाभाव की अनुभूति होती है तभी वह पागलपन अथवा रोग की शरण लेता है।

बालक का हृदय वास्तव में सच्चा प्रेम चाहता है; ऐसा प्रेम सरल भाव से और त्याग भावना से बच्चे को दिया जाता है। अहंकार युक्त, दिखाऊ तथा चिन्तायुक्त दिया हुआ प्रेम बच्चे में मानसिक रोग की उत्पत्ति करते हैं। जब बच्चे को वास्तविक प्रेम नहीं मिलता तब उससे चिन्ता, इन्द्रिय सुख की इच्छा, आत्मग्लानि और आत्म हीनता की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है। माता पिता इस मनोवृत्ति का दमन दण्ड के भय से करते हैं। इस भय के कारण बालक अपनी उक्त अशिष्ट प्रवृत्तियों को दबाता है। जब इन प्रवृत्तियों का दमन होता है तो वे बाद में निरर्थक शारीरिक व्यवहारों में अथवा मानसिक रोगों में प्रकाशित होते हैं।

प्रत्येक मनोज्ञात रोग में दो प्रकार का दमन होता है। पहले तो बालक की स्वाभाविक प्रेम की भूल, चिन्ता, क्रोध, और आत्मग्लानि के भाव द्वारा दमन होता है। फिर इन अशिष्ट भावों का दमन भी मनुष्य की शिष्ट भावना द्वारा अथवा नैतिक बुद्धि द्वारा होता है। इस प्रकार के दमन के परिणाम स्वरूप मनुष्य में विभाजित व्यक्तित्व की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को दो प्रकार की लड़ाई लड़नी पड़ती है एक बाह्य और दूसरी आन्तरिक। आन्तरिक लड़ाई की प्रधानता रहती है। प्रो० हेडफील्ड के कथनानुसार मनुष्य के अहंभाव अथवा प्राकृतिक स्वत्व और उसके नैतिक स्वत्व में संघर्ष होने के कारण ही मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। यह संघर्ष मनुष्य की चेतना के नीचे होता है। मनुष्यका रोगयुक्त होना यह दर्शाता है कि उसका प्राकृतिक स्वत्व उसके कठोर नैतिक स्वत्व के नियंत्रण में रहने के लिये तैयार नहीं है। बालक को तीन वर्ष की अवस्था से ही शिष्टाचारी बनाया जाता है। यह शिक्षा बालक के स्वभाव का अंग बन जाती है, और उसमें कठोर नैतिक स्वत्व की उत्पत्ति करती है। इस स्वत्व और प्राकृतिक स्वत्व के संघर्ष से ही मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। यदि बालक का नैतिक स्वत्व उसके प्राकृतिक स्वत्व से समन्वय स्थापित कर सके तो उसे मानसिक रोग ही न हो।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य की वर्तमान काल की नैतिक समस्याएँ उसके मानसिक रोग की प्रधान कारण नहीं होती और न दूसरी कोई समस्याएँ ही इसका प्रधान कारण होती है। वर्तमान काल की सभी समस्याओं का महत्त्व बालक के बचपन के संस्कारों पर निर्भर करता है। किसी व्यक्ति के वर्तमान काल के जीवन में नैतिक संघर्ष की समस्याएँ इसलिये की जटिल रूप धारण करती हैं कि बचपन के अनुभव में वे समस्यायें हल न हो सकी थीं। यदि ये समस्याएँ पहले समाप्त हो गई होतीं तो वे वर्तमान में भयंकर रूप धारण न करती और किसी प्रकार का मानसिक रोग न होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक रोगों का प्रधान कारण मनुष्य के बचपन के अनुभवों में रहता है और यदि हम किसी व्यक्ति को स्वस्थ और सुखी बनाना चाहते हैं तो हमें उसके बचपन के संस्कारों को कटु बनने से रोकना पड़ेगा। इसके लिये राष्ट्र में मनोविज्ञान के ज्ञान को प्रसार की आवश्यकता है, ताकि बच्चे और माता पिता का संबंध मधुर बन जाय और बच्चे के मन में वे मानसिक जटिलतायें न उत्पन्न हों जो इस संबंध के दूषित होने के कारण उत्पन्न होती हैं।

— प्रो० श्री ओमप्रकाश गुप्त

नये मनोवैज्ञानिक प्रयोग

हकलाहट में सुधार

इस माह की प्रथम बैठक में एक सुसलमान युवक जो स्थानीय कालेज में पढ़ता है मनोविज्ञान शाला के चिकित्सा की बात अखबार से जानकर अपने एक मित्र के साथ आया। इसकी उमर उन्नीस वर्ष की है। यह बहुत गरीब घर का व्यक्ति है। इसे हकलाहट इतनी अधिक थी कि उसका नाम पूछने पर वह अपना नाम भी नहीं कह पाता था। दूसरे प्रश्नों का भी जवाब वह ठीक से दे नहीं सकता था। उससे ये प्रश्न सभा के समय ही पूछे गये थे। उसकी फठिनाई को जानकर एक दो मिनट में ही बात समाप्त कर दी गई। इस युवक की चिकित्सा प्रबानतः आत्म-निर्देश से की गई। उसे पर्याप्त स्नेह दिखाया गया और आनापानसति का अभ्यास उससे करवाया गया। फिर उसके स्वप्न पूछे गये और उसकी बचपन की सभी स्मृतियों को चेतना की सतह पर लाया गया।

उसके जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसे भारी कष्ट सहने पड़े है। उसकी माँ सात वर्ष की अवस्था में मर चुकी थी। पिता ने दूसरी शादी की। पहली माँ के तीन बच्चे थे। दूसरी माँ को कोई बच्चा नहीं हुआ। पैसे की कमी के कारण घर में बड़ा कष्ट सहना पड़ा। उसे हकलाहट ११ वर्ष की अवस्था से आई। इसका तुरंत का सम्बन्ध उसके पिता की डॉट डपट से था।

इस युवक की पढ़ाई लिखाई में अनेक प्रकार की सहायता दी गई। उसे घर आने पर अपने बच्चों जैसा ही चाय, नाश्ता दिया गया। आनापानसति के अभ्यास कराने में उसे पर्याप्त समय दिया गया। इसके परिणाम स्वरूप तीन सप्ताह में ही इन युवक की हकलाहट में आश्चर्यजनक सुधार हुआ।

उक्त प्रयोग से यह पता चलता है कि मानसिक रोगों का उपचार केवल मनोविश्लेषण विधि से होनेका सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है। हकलाहट साधारणतः बड़ा जटिल रोग माना जाता है जो मनोविश्लेषण के भी वश में नहीं आता। परन्तु उक्त प्रयोगको देखते हुये यह कहा जा सकता है कि जो रोग मन की छानबीन करने से पकड़ में नहीं आता वही स्नेह से सरलता से वश में आ जाता है। इस प्रकार हकलाहट के सुधार का यह मनोविज्ञान शाला का सातवाँ प्रयोग है। स्नेहपूर्वक व्यवहार और बातचीत से तथा आत्म-निर्देश के अभ्यास से सभी रोगियों को लाभ हुआ है।

दमा में सुधार

कुछ लोगों को शारीरिक कारणों से दमा होता है और कुछ को मानसिक कारणोंसे। किसी व्यक्ति का दमा वास्तविक होता है और किसी का अवास्तविक। इस प्रकार के रोग को फंक्शनल रोग कहते हैं। अभी हाल में एक विद्यार्थी जिसकी उमर २० साल की है दमा के रोग से पीड़ित होने के कारण आया। यह विद्यार्थी दवाई बनाने के विषय में विशेष अध्ययन कर रहा है। घर में दवाई बेचने का बड़ा भारी रोजगार है और लगभग एक लाख रुपये की दवा साल भर में विकती है। सभी प्रकार की चिकित्सा उसे सुलभ है। रोग हलका करने के लिये कई बार इन्जेक्शन लगाये जा चुके हैं, परन्तु जैसे जैसे दवा होती है रोग भी बढ़ता जाता है।

मनोविज्ञानशाला में आने पर उसकी मानसिक स्थिति और पुराने जीवन का अध्ययन किया गया। उसका स्वभाव बड़ा भोला-भाला है। उसका अपने एक भाई के साथ बड़ा मनमुटाव था। उसे पिताने बचपन से ही सक्ती में रक्खा था। इसके कारण उसे भारी मानसिक वेदना होती रहती थी। एक बार वह घर। अपमानित होने पर घर से भाग भी गया था। इससे घर के लोग बहुत चिन्तित हो गये थे। माता

भोजन करना छोड़ दिया था। इस घटना से मैंझले भाई के हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह कहता था कि बेवकूफ कहीं घूमता-फिरता होगा और अपने आप चला आवेगा।

घर लौट आने पर किसी बातचीत में मैंझले भाई द्वारा डाँटे जाने पर यह युवक लड़ पड़ा। अब तक जो व्यक्ति चुप रहता था वह अपना अपमान न सह सका और अपने भाई को उसने भी गालियाँ सुनाई। पिता भी चले आये और भाइयों में सुलह कराई। तब मैंझले भाई का छोटे भाई के प्रति व्यवहार बदल गया। इससे भी महत्त्व की स्मृति एक और है। इस व्यक्ति का एक मित्र था। यह मित्र उसे बहुत ही प्यार करता था और यह उसे प्यार करता था। आज से तीन वर्ष पूर्व इस प्रेम ने समलिंगी व्यभिचार का रूप ले लिया। इसके पश्चात् इस युवक को आत्म-ग्लानि होने लगी। साधारणतः इस व्यक्ति का जीवन बड़े ऊँचे नैतिक स्तर का है। वह बड़ा ही स्नेही स्वभाव का और सेवा भाववाला व्यक्ति है। इस नैतिकताकी अवहेलना ने उससे अनेक प्रकार से बदला लिया। उसे न केवल अपने पहले के मित्र से वरन् अपने आपसे भी घृणा हो गई। दमा के रोग का उदय इसी घृणा की मनोवृत्ति के बढ़ने के बाद हुआ। रोगी का घर में बड़े ही स्नेह के साथ के साथ किया उसकी हृदय की बातों को सुनने के लिये पर्याप्त समय दिया गया। जैसे जैसे उनके मन का भार हलका हुआ उसके स्वास्थ्यमें आश्चर्यजनक सुधार भी हुआ। इस प्रकार का सुधार एक ही महीने के बीच में रोगी को स्वास्थ्य में हो गया।

देखा गया है कि जब कोई नैतिक बुद्धि का युवक किसी ऐसे कार्य में भाग लेता है जिसके लिये उसे आत्मग्लानि होती है तो वह अपने आपसे ही घृणा करने लगता है। जब इस प्रकार घृणा की भावना का दमन होता है, तब वह शारीरिक रोग का रूप ले लेती है। कभी-कभी अपने घनिष्ठ मित्र से किसी नैतिकता सम्बन्धी भूल के कारण बालकों में सिर की पीड़ा, आँख का रोग, स्मरणशक्ति की कमी, चित्त की चंचलता, भयानक स्वप्न का देखना और उदर के अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। द्वेष भावना को लाना ही बुरा है। फिर उसका चेतना की सतह से दब जाना और भी बुरा होता है। मानसिक चिकित्सा करते समय सभी दबी अप्रिय बातों को स्मृति पटल पर लाया जाता है। रोगी से उन सभी बातों को धीरे-धीरे कहलाया जाता है जिनके स्मरण से वह आत्मग्लानि का अथवा स्वामिमान में घटका का अनुभव करता है। इस प्रकार के दुःख का अनुभव रोगी से कराना उसके आरोग्य लाभ करने के लिये नितांत आवश्यक होती है।

अन्यमनस्कता की चिकित्सा

आज से ८ वर्ष पूर्व मेरे एक मित्र ने बताया कि उनके मित्र के पुत्र को एकाएक उन्माद का रोग हो गया है। वह अनाप-सनाप बफता है और अपने शरीर की सुख-दुख नहीं रखता। वह नंगा हो जाता है। मैं इस विद्यार्थी को देखने गया। उसने मुझ से प्रणाम किया और बातचीत करने पर कुछ उत्तर भी दिये। परन्तु उसका चित्त न स्थिर था। उसे ठीक से नींद नहीं आती थी। इस विद्यार्थी को डाक्टर दुर्गा-शंकरजी नागर के पास भेज देने की सलाह दी गई। अपने भाई के साथ चार महीने तक यह बालक रहा। इसकी इस समय उमर १६ वर्ष की थी। नागरजी की उपचार विधि निर्देशविधि थी। वे अपने हवन पूजन में सभी रोगियों को बुलाते थे और उनके सामने ही यह कार्यक्रम होता था। इस प्रकार के उपचार से उसे धीरे-धीरे लाभ हुआ। नागरजी कभी-कभी अपने रोगियों को सत्संगियों के सामने गीत गाने अथवा प्रवचन करने के लिये भी कहते थे। इस प्रकार वे रोगी में आत्मविश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा करते थे। यह विद्यार्थी भी यही करता था। कुछ काल के बाद यह विद्यार्थी वापिस आ गया और अभ्य-यन के कार्य में लग गया।

मनोविज्ञान

इस घटना के दो वर्ष पश्चात् इस विद्यार्थी को मुझे पढ़ाना पड़ा। कभी-कभी उसे अन्यमनस् देखा जाता था; स्मरण शक्ति, धारण और चित्त की एकाग्रता कम थी। इसको मनोविज्ञान पढ़ाने की विशेष योजना बनाई गई। उक्त विद्यार्थी से मनोवैज्ञानिक विषयों पर अलग चर्चा की जाती थी। उसे स्वप्नादि के अर्थ के विषय में बातचीत होती थी। उससे स्नेहपूर्वक बातचीत करने से उसकी पुरानी स्मृति जाग्रत हुई। उसके विक्षिप्ततावस्था में आने का कारण एक विशेष प्रकार की घटना थी।

जब यह व्यक्ति सत्रह वर्ष का था तब उसका स्नेह एक पन्द्रह साल के उसी विद्यालय में पढ़नेवाले विद्यार्थी से हो गया था। दोनों विद्यार्थी बोर्डिंग में रहते थे। अपने मित्र के लिये वह सभी प्रकार की सहायता करता था। वह उसे नये पाठ पढ़ा देता और गणित के सवाल सिखा देता था। यह दूसरा विद्यार्थी भोला-भाला और सुन्दर बदन का था। अतएव पहले विद्यार्थी के कुछ मित्रों ने उसपर व्यभिचार का संदेह किया। एक छात्र ने अपने तीन चार मित्रों के समक्ष उससे कह डाला कि उसका स्नेह उस सुन्दर विद्यार्थी के प्रति वासनापूर्ण है। इसकी पता जब सेवा करनेवाले विद्यार्थी को लगा तो उसके क्रोध का कोई ठिकाना न रहा। परन्तु वह उसे मन ही मन उसे दबाये रहा। वास्तव में यह विद्यार्थी बड़ा सदाचारी और साधु स्वभाव का था और उसके साधु स्वभाव की खिल्ली उड़ाने हुए ही उक्त बात को उन विद्यार्थियों ने की थी। साधु विद्यार्थी ने आठ बजे रात को उसकी निंदा करनेवाले विद्यार्थी को बोर्डिंग के बाहर बुलाया और उससे वह बात कही जो उसने उसके विषय में कही थी। साधु विद्यार्थी ने मन में यह निश्चय किया था कि स्वयं भगवान ही आकर उसके चरित्र की सत्यता को प्रमाणित करेंगे नहीं तो वह पास ही गंगा में डूब कर मर जायगा। इस विद्यार्थी के चेहरे की आकृति देखकर निंदा करनेवाला विद्यार्थी डर गया। वह उसके पास से भागना चाहता था कि दूसरे ने उसे पकड़ लिया। इसी बीच क्रुद्ध विद्यार्थी को शान्त हुआ कि एक तारा टूट कर उसके पास आया और उसे देख वह मूर्छित होकर गिर गया। उसके बाद से उसे कोई सुष-बुध न रही। इस अनुभव को कहने के पश्चात् रोगी के आचरण, व्यवहार और स्मरण शक्ति में पर्याप्त सुधार हुआ। यह आज एक विद्यालय का सफल शिक्षक है। उसे फिर से विक्षिप्तता का कोई रोग नहीं हुआ। उसने एम० ए० परीक्षा पास कर ली है।

इस रोगी की चिकित्सा इस बात को प्रमाणित करती है कि जो रोगी मेन्टल हास्पिटल में रखे जाने योग्य रहते हैं अर्थात् जिन्हें सीबोफ्रेनिया का रोग हुआ समझ लिया जाता है वे भी स्नेह सहानुभूति, और प्रोत्साहन का वातावरण पाकर स्वास्थ्य लाभ करने में समर्थ होते हैं। ऐसे रोगियों की तुरंत ही चिकित्सा निर्देश विधि से ही हो सकती है। पीछे उनकी पुरानी स्मृतियों को चेतना पर लाकर उनके कुसंस्कार नष्ट किये जा सकते हैं।

मनोविज्ञान की लोक सेवा

मनोविज्ञान के क्षेत्र दो प्रकार के हैं— एक बाह्यजगत सम्बन्धी और दूसरे अन्तर्जगत सम्बन्धी, अमेरिका और युरोप में मनोविज्ञान का उपयोग बाह्यजगत पर विजय प्राप्त करने के लिये ही अधिकतर होता है। मनोविज्ञान के अध्ययन से मनुष्य अपने व्यापार का प्रसार कर सकता है, वह कुशल राजनीतिज्ञ, समाजका नेता, सफल सेनानायक अथवा शिक्षक बन सकता है। अपने पारिवारिक जीवनको सुधारने के लिये, बालक का उचित लालन पालन करने के लिये मनोविज्ञान की आवश्यकता होती है। ये सब मनोविज्ञान के बाहरी क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में यूरूप में पर्याप्त प्रयोग हो रहे हैं। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की खोजों के कारण राष्ट्र की शिक्षा प्रणाली से उसकी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में पर्याप्त परिवर्तन होते हैं। कुशल शासक जनता की मनोवृत्ति को समझकर इस प्रकार की योजनाएँ बनाते रहते हैं जिससे जनता शासकों का सदा आदर करती रहे और उनके आदेशानुसार कार्य करती रहे।

मनोविज्ञान का एक भारी क्षेत्र चिकित्सा है। मनुष्य के बहुत से शारीरिक रोगों की जड़ उसके मन में रहती है। जब तक इस जड़ का ज्ञान चिकित्सक को नहीं रहता तब तक वह रोग का भली प्रकार से उपचार नहीं कर पाता। रोगी के मनोभाव को बदल कर उसके बहुत से रोगों को नष्ट किया जा सकता है। प्राकृतिक चिकित्सा की सफलता वास्तव में रोगी के मनोभावों के बदलने पर ही निर्भर करती है। साधारण डाक्टर की चिकित्सा में भी रोगी के मनोभावों को बदलना नितान्त आवश्यक होता है। जब तक रोगी निराशावादी रहता है उसे रोग मुक्त करना सरल नहीं। निराशावादित मानसिक ग्रन्थि की उपस्थिति की सूचक है। इस ग्रन्थि के नष्ट होने पर ही निराशावादित और तन्जनित रोग नष्ट होते हैं।

शारीरिक रोगों में स्वतंत्र अनेक मानसिक रोग भी मनुष्यों को होते हैं। इनके निराकरण के लिये मनोवैज्ञानिक उपचार की ही आवश्यकता होती है। ये रोग प्रारंभ में ही सरलता से हटाये जा सकते हैं। आयु अधिक हो जाने पर वे सरलता से नहीं जाते। बचपन के संस्कारों का इन रोगों की उत्पत्ति में बड़ा महत्व है। यदि माता-पिता बालक को उचित ढंग से रखें तो उसे आगे चल कर वे अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग न हो, जो उसे होते हैं।

मानसिक चिकित्सा के क्षेत्र में आने पर मनुष्य के अन्तर्जगत को ठीक बनाने में मनोविज्ञान के महत्व का ज्ञान होता है। न केवल मानसिक रोगी वरन् प्रत्येक साधारण व्यक्ति भी अनेक प्रकार की मानसिक व्याधियों से परेशान रहता है। इन व्याधियों का कारण मनुष्य को किसी ठोस तत्व के प्रति आस्तिक भाव की कमी रहती है। जिस मनुष्य का मन किसी एक तत्व में विश्वास नहीं करता उसके

विचार बिखरे रहते हैं। बिखरे विचारों के व्यक्ति को न इच्छाशक्ति की बढ़ता रहती है और न चरित्र बल। ऐसा व्यक्ति सिद्धान्तवादी न होकर अवसरवादी होता है। मनुष्य के जीवन में सिद्धान्त का अपनाना केवल उसे सदा अस्थिर रखता है वरन् उसे कायर बना देता है। अवसरवादिता थोड़े समयतक सफल होती है, परन्तु अन्त में वह अपने आप ही गिर जाती है।

मनोविज्ञान का गंभीर अध्ययन हमें वाह्यजगत और मानसिक प्रक्रियाओं के परे उपस्थित स्वतन्त्र आत्म-तत्त्वकी ओर ले जाता है। यह तत्त्व चंचल संसार और मन की चंचल अनुभूतियों के परे है बिना इस तत्त्व में विश्वास बड़े मनुष्य को स्थायी शान्ति नहीं मिलती। यह तत्त्व सभी प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है। इस प्रकार का विश्वास मानव समाज में एकता लाने में साधक होता है।

वर्तमान काल में जो संसार के विभिन्न राष्ट्रों में भौतिक लाभ के आधार पर एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है वह प्रयत्न खोखला है। ऐसे प्रयत्नों में हार्दिक एकता का अभाव रहता है। जबतक मनुष्य की बुद्धि बहिर्मुखी है, जब तक वह इन्द्रिय गोचर पदार्थों को ही सर्व श्रेष्ठ माने हुए और उसे जब तक आध्यात्मिक मूल्यों का ज्ञान नहीं है तब तक उसे स्थायी संतोष और शान्ति प्राप्त करना संभव नहीं। संसार में व्यापक असन्तोष इस बातको दर्शाता है कि मनुष्य ने जीवन के वास्तविक मूल्यों को पहचाननेमें मूल की है। मनोविज्ञान का गहरा अध्ययन हमें उसी ओर ले जा रहा है जिस ओर संसार के महान् दार्शनिक गये हैं।

आज संसार में नये प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। संसार के सभी बड़े-बड़े राष्ट्रों में ईर्ष्या द्वेष और कलह का वातावरण फैला हुआ है। संसार के शान्ति सम्मेलन उपयुक्त भावों के मिटाने के कोई योजना न बनाकर राजनैतिक गुट बनाने के उपाय बन गये हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों के पूर्व युद्ध केवल छोटी-सी सीमा में होते थे वे आज विश्वव्यापी युद्ध बन गये हैं। इन युद्धों को हटाने के जितनी ही चेष्टा की जाती है उनकी संभावना उतनी ही बढ़ती जाती है। ये युद्ध मन की आन्तरिक आवश्यकताओं को दर्शाते हैं। जबतक मानव स्वभाव की सर्वोच्च आवश्यकता की पूर्ति नहीं की जाती विश्वव्यापी युद्धों का होना अनिवार्य है। यह आवश्यकता नये प्रकार की शिक्षा से ही पूरी हो सकती है। इस शिक्षा में भौतिक मूल्यों को सर्वोच्च स्थान न देकर आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोच्च स्थान देना होगा।

जहाँ मनोविज्ञान जीवन में आदर्शहीनताके दुष्परिणामपर प्रकाश डालता है वहाँ वह हमें मूर्ख आदर्शवादिताके प्रति भी सचेत करता है। भारतवर्षमें इस प्रकारकी आदर्शवादिता फैली हुई है। मूर्ख आदर्शवादिता आदर्शहीनतासे भी बुरी है। इससे मनुष्य अपने मन की वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ रहता है, वह अपने आपको धोखा देता है और झूठी ख्याति से संतोष कर लेता है। यह एक प्रकार का राष्ट्रव्यापी मानसिक रोग है। आज भारतवर्ष इसके कारण ही न भौतिक और न आध्यात्मिक प्रगति कर रहा है। हमने इच्छाओं का दमन करना मात्र सीखा है। इससे उनका निराकरण नहीं होता, केवल निराशावादिता और मानसिक रोग की उत्पत्ति होती है।

आज संसार के भौतिकवादी राष्ट्रों को अन्तर्मुखी बनने की आवश्यकता है और भारतवर्ष अपनी अन्तर्मुखता को त्यागे बिना वाह्य जगतमें समृद्धशाली होनेकी आवश्यकता है। भारतवर्ष भौतिक तर्कवाद उसे गिरानेवाला है। हम संसार को नया मार्ग बताना चाहते हैं, परन्तु यह शक्ति ही होकर अथवा निराशावादी बनकर संभव नहीं। मनोविज्ञान सिखाता है कि मनुष्य की वाह्य और आन्तरिक उन्नति एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। वाह्य उन्नति तभी रहती है जब मनुष्य की आन्तरिक उन्नति भी साथ-साथ हो और जो आन्तरिक उन्नति चाहते हैं उन्हें वाह्य उन्नति की अवहेलना करना संभव नहीं।

व्यक्तित्व का विभाजन

प्रो० जे० एम० मेहता एम० ए०

व्यक्तित्व के विभाजन का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को होता है। हम अपने सामान्य जीवन में अनेक ऐसे लोगों को पाते हैं जो एक प्रकार की परिस्थिति में एक प्रकार के होते हैं और दूसरे प्रकार की परिस्थिति में दूसरे प्रकार के होते हैं। प्रायः देखा जाता है कि जो व्यक्ति अपने सामान्य जीवन में सचाई का व्यवहार करता है वही व्यवसाय में दूसरे प्रकार का बन जाता है। अधिक लाभ के लिये वह अनेक प्रकार के छल और शोखेबाजी से काम लेता है। एक ही व्यक्ति का व्यावसायिक संसार से एक प्रकार का सम्बन्ध होता है, परिवार से दूसरे प्रकार का और ईश्वर से तीसरे प्रकार का। ऐसे लोग अपने व्यक्तित्व का एकीकरण करना नहीं चाहते। यदि वे ऐसा करें तो संभव है कि वे अपने जीवन को चला ही न सकें। विद्यार्थियों में देखा जाता है कि वे जब होस्टल में रहते हैं तो एक प्रकार का व्यवहार करते हैं और घर में जाने पर भिन्न प्रकार का। कितने ही लोग बाहरी लोगों से व्यवहार करने में बड़े ही सुशील और लज्जामय युक्त होते हैं, यही लोग अपनी स्त्री और बाल बच्चों के प्रति बड़े कठोर भी होते हैं। कुछ लोग बाहर बड़े कठोर और दृढ़ दिखाई देते हैं और यही लोग अपने घर में जाने पर मेमने जैसे बन जाते हैं नैपोलियन बोना पार्ट वही दृढ़ इच्छा-शक्तिका व्यक्ति था। लड़ाई के मैदान में कोई भी उसे अपने निर्याय से डिगा नहीं सकता था, परन्तु वही व्यक्ति अपनी पत्नी लूसी के सामने जाने पर खरगोश जैसा बन जाता था। वह अपनी प्रेयस्त्री को प्रसन्न करने के लिये उसकी सभी प्रकार की मनचली बातों को पूरा करते रहता था।

उपर्युक्त अनुभव इस बात को दर्शाते हैं कि कुछ मनुष्यों में एक शरीर में अनेक व्यक्तित्व रहते हैं और वे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त होते हैं। हम स्वयं अपने मन का विभाजन अपनी स्वप्नावस्था में देखते हैं। जो व्यक्ति अपनी जाग्रतावस्था में बड़ा ही सदाचारी और शिक्षा-चारी होते हैं वे अपनी स्वप्नावस्था में दुराचारी और व्यभिचारी बन जाते हैं। बहुत से बहादुर लोग स्वप्न में कायर बन जाते हैं। इस प्रकार के अनुभवों पर प्रकाश आधुनिक मनोविज्ञान की विभाजित व्यक्तित्व की खोजों से भली प्रकार से पड़ता है। अंग्रेजी साहित्यकार लुईस्टीवेंसन ने अपनी एक कहानी में एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है जिसमें दो भिन्न प्रकार के व्यक्तित्व एक ही शरीर में उपस्थित थे। एक का नाम जैकिल और दूसरे का नाम हाइड था। ये स्वभाव में एक दूसरे के विरोधी थे। कभी एक व्यक्तित्व शरीर से काम लेता था और कभी दूसरा इस प्रकार के बहु व्यक्तित्ववाली व्यूशाम्प नामक महिला की जीवनी का वर्णन डा० मार्टिनप्रिस ने अपनी 'डिसेम्बियेसन आफ़ ष परसनालिटी' नामक पुस्तक में दिया है। इस महिला के व्यक्तित्व में तीन भिन्न-भिन्न प्रकार की आत्माएँ एक साथ ही रहती थीं। इन तीनों के स्वभाव भिन्न-भिन्न थे। एक सन्त स्वभाव की थी, दूसरी शैतान स्वभाव की और तीसरी सामान्य स्वभाव की थी। जब वह सामान्य स्वभाव में रहती थी तो उसे अपने दूसरे व्यक्तित्व का भी ज्ञान नहीं रहता था। परन्तु जब शैतान स्वभाववाली आत्मा उसमें समा जाती थी तब उसे अपनी ही पिछली अवस्था का ज्ञान रहता था और दूसरी भी दो अवस्थाओं का ज्ञान रहता था। यह आत्मा सदा दूसरी दो आत्माओं के कार्यों में बाधा डालती थी और अनेक प्रकार के समाज द्वारा वर्जित कामों में रुचि लेती थी।

जो बातें उपर्युक्त बहु व्यक्तित्व वाली महिला में पाई जाती थीं वही बातें हिस्टीरिया रोग से पीड़ित प्रत्येक व्यक्ति में भी पाई जाती है। फ्रांस के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक पैरेजेने महाशय ने अपनी मनोवैज्ञानिक

खोजों से पता चलाया कि हिस्टीरिया के रोग में मनुष्य के व्यक्तित्व में विभाजन हो जाता है और व्यक्तित्व एक भाग दूसरे के बश में नहीं रहता। पुराने समय में इस रोग को भूत बाधा कहा जाता था। कोई दुरात्मा किसी व्यक्ति को अपनी मानसिक कमजोरी की अवस्था में पकड़ लेती है और समय-समय पर उसे क़रती है। यही भूत बाधा का रोग है और इसी को आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में हिस्टीरिया कहा जाता है। यह दुरात्मा अपने से बाहर कोई तत्व नहीं है, यह अपने ही व्यक्तित्व का एक भाग है जो व्यक्ति के प्रभाव व्यक्तित्व के विरुद्ध खड़ा हो गया है।

जो स्थिति मनुष्य की हिस्टीरिया की स्थिति में होती है वही स्थिति चलित स्वप्न और सम्मोह की अवस्था में भी होती है। मानसिक चिकित्सा के अनुभव से ज्ञात हुआ है कि बिना लोगों के मन अन्तर्द्वन्द की अवस्था रहती है और जिन्हें हिस्टीरिया का रोग हुआ होता है उन्हें सम्मोहित करना दूसरों की अपेक्षा सरल होता है। सम्मोहन की अवस्था में सामान्य व्यक्तित्व के अतिरिक्त दूसरा व्यक्ति कार्य करने लगता है। यही बात हिस्टीरिया की अवस्था में भी रहती है परन्तु जहाँ हिस्टीरिया में दूसरा व्यक्तित्व अपने आप प्रकाशित होता है सम्मोहन में चिकित्सक के निर्देशानुसार यह व्यक्तित्व प्रकाशित होता है यदि रोगी के सामान्य व्यक्तित्व को निर्देश के अनुसार हटा दिया जाय तो रोगी का दबा हुआ व्यक्तित्व अपने आप बाहर आ जाता है। फिर दूसरे निर्देश देकर सम्मोहन की अवस्था के व्यक्तित्व सामान्य व्यक्तित्व से एकीकरण कराया जा सकता है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने कुछ ऐसे लोगों की जीवनी की भी खोज की है जो बहुत काल तक अपने साधारण व्यक्तित्व को भूलकर दूसरे के व्यक्तित्व में रहने लगते हैं। इस प्रकार के एक व्यक्ति का वर्णन जिसका नाम एन्सिल बोरन था, विलियम जेम्स महाशय ने किया है। यह व्यक्ति एक बार बैंक से कुछ रुपय लेने गया था और रुपया लेकर घर लौटते समय अपने आपको भूल गया। वह एक दूर के नगर में चला गया और वहाँ उसने ब्राउन नाम धारण करके एक व्यापार खोल दिया। वह कुछ दिन तक यहाँ व्यापार का काम करते रहा, परन्तु जब वह एक दिन सोकर उठा तो वह अपनी नई परिस्थिति को पहचान नहीं सका। वह फिर से एन्सिल बोरन बन गया। जब लोगों ने कहा कि उसका नाम ब्राउन है और वह व्यापारी है तो उसने कहा कि वह ब्राउन के बारे में कुछ नहीं जानता। पिछली बड़ी लड़ाइयों में सिपाही अपने व्यक्तित्व को भूल जाते थे। वे किसी काम के लिये चलते थे और किसी भयानक दृश्य देखकर दूसरे व्यक्ति बन कर दूसरी जगह चल देते थे।

उपयुक्त उदाहरण मनुष्य के मन की बनावट की जटिलता पर प्रकाश डालते हैं। जब किसी व्यक्ति को किसी बुराई के लिये दोषी ठहराते हैं तो हम प्रायः इस बात को भूल जाते कि वह व्यक्ति तो अपने सामान्य व्यक्तित्व में हमारे जैसा ही भला हो सकता है। वह बिना व्यक्तित्व के बश में आकर ही बुरा काम करने लगा है। जब तक हम किसी व्यक्ति की माननीय परिस्थिति को भली प्रकार न समझ लें तब तक उसके चरित्र के विषय में किसी प्रकार की धारणा बना एक प्रकार की नादानी होगी।

अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का विभाजन कैसे होता है इस प्रकार के विभाजन को हम किस प्रकार रोक सकते हैं। व्यक्तित्व के विभाजन के विषय में दो प्रकार के सिद्धान्त हैं। पहला सिद्धान्त मानसिक शक्ति के हास का सिद्धान्त है। दूसरा मानसिक अन्तर्द्वन्द का सिद्धान्त है और तीसरा सिद्धान्त मानसिक एकीकरण में कमी का सिद्धान्त है। पहले सिद्धान्त के अनुसार मानसिक शक्ति ही व्यक्तित्व-विक्षेप का कारण होता है। यह

प्रकार की व्यक्तित्व के अव्यवस्था की अवस्था है। जिस प्रकार जब तक सरकार के पास पर्याप्त पुलिस और सैन्यबल रहता है तब तक राज्य में किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं रहती और उक्त बल के घट जाने से राज्य में अव्यवस्था अपने आप ही फैल जाती है उसी प्रकार जब किसी मनुष्य के व्यक्तित्व में बल रहता है तब अनेक व्यक्तित्व का प्रश्न ही नहीं आता। मनुष्य के सभी विचारों, क्रियाओं और भावनाओं में समन्वय तथा एक लक्ष्यता रहती है। मानसिक बल के घट जाने पर ही व्यक्तित्व की अव्यवस्था उत्पन्न होती है। मानसिक बल की कमी बाहरी अथवा भीतरी कारणों से हो सकती है। बहुत दिन तक ठहरने वाली चिन्ताएँ, शारीरिक रोग अथवा जीवन का कोई संकट बहुव्यक्तित्व की स्थिति उत्पन्न कर दे सकता है। यह सिद्धान्त साधारण डाक्टरों के सिद्धान्त है।

दूसरा सिद्धान्त डा० फ्रायड का सिद्धान्त है। उनके कथनानुसार प्रत्येक मनुष्य के मन में अन्तर्द्वन्द्व चलते रहते हैं। ये अन्तर्द्वन्द्व दो प्रकार की अनमेल प्रवृत्तियों में होते हैं। जब मनुष्य की अन्तर्मन की प्रवृत्तियों में विरोध बहुत अधिक हो जाता है और जब इस विरोध को दमित रखने में मनुष्य की चेतना समर्थ नहीं होती तो ये विरोधी प्रवृत्तियों बारी बारी से चेतना की सतह पर उसी प्रकार आ जाती हैं जिस प्रकार थिएटर के विभिन्न पात्र मैनेजर की इच्छा के विरुद्ध भी चले आएँ। जिस व्यक्ति के जीवन में समाज द्वारा निन्दनीय प्रवृत्तियों का दमन अत्यधिक होता है उसके जीवन में बहुव्यक्तित्व होने की, हिस्टिरिया आदि रोगों के आ जाने की अधिक सम्भावना रहती है। प्रत्येक व्यक्ति के मन के तीन भाग होते हैं एक अहंभाव दूसरा नैतिक अहम् और तीसरा प्राकृतिक स्वत्व। इन्हें इगो, सुपरइगो और इड कहा गया है। मनुष्य के व्यक्तित्व का विभाजन सुपरइगो और इड में अत्यन्त विरोध होने के कारण होता है। जिन लोगों के जीवन के आदर्श बहुत ही ऊँचे होते हैं और जो अपने प्राकृतिक स्वत्व को इन आदर्शों के अनुरूप नहीं बना पाते उनका सामान्य जीवन खिचावों से भरा रहता है। इन खिचावों को हटाने के लिये अनेक प्रकार के मानसिक विच्छेद उत्पन्न होते हैं। मनो-विच्छेद की अवस्था उन्हीं लोगों को होती है जो अपने सामान्य जीवन में अत्यधिक नैतिकता वादी और नियम में बद्धता रखनेवाले और कठोर जीवन के लोग होते हैं। जब जीवन के आदर्श जीवन के वास्तविक भागों की अवहेलना करते हैं तो मनुष्य में व्यक्तित्व के विभाजन का अवस्था आ जाती है।

व्यक्तित्व के विभाजन का तीसरा सिद्धान्त श्री मर्फी वेडेन महाशय का है। इनके कथनानुसार प्रत्येक मनुष्य के विकास की तीन अवस्थाएँ होती हैं संवेदनात्मक अवस्था, प्रत्यक्षात्मक अवस्था और विचारात्मक अवस्था। पहली अवस्था बच्चे की अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य के व्यक्तित्व में एकता नहीं रहती न उसका ज्ञान और क्रियाएँ एकही ओर प्रवृत्त होती हैं। दूसरी अवस्था में भिन्न भिन्न प्रकार के ज्ञान भाव और क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ एकता की ओर प्रवृत्त होती हैं परन्तु उन सबमें वास्तविक एकता नहीं आ पाती। एकता के कई केन्द्र इस समय होते हैं और सभी केन्द्रों में आपस में संगठन नहीं रहता। तीसरी अवस्था में मनुष्य के विचार भाव और क्रियात्मक प्रवृत्तियों में पूर्ण एकता आ जाती है। व्यक्तित्व का विभाजन इस बात का प्रतीक है कि मनुष्य के मन के विभिन्न अवयवों में एकता स्थापित नहीं हो पायी थी। विभाजन की उपस्थिति इस सत्य को प्रत्यक्ष करती है।

मनुष्य का व्यक्तित्व गतिशील वस्तु है। इसकी एकता का अर्थ मनुष्य के स्वभाव की गतिशीलता में एकत्व स्थापित करना है अर्थात् उसे एक ही ओर मोड़ना है। स्वयं प्रकृति ही मनुष्य के

शारीरिक रोगों का मानसिक आधार

‘श्री पशुपतिनाथ मुफर्जी एम० ए०’

आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से पता चला है कि मनुष्य को बहुत से शारीरिक रोग लिये होते हैं कि उसके मन में कोई ऐसी भावना है, जो इस रोग की उपस्थिति से उत्पन्न होती है किसी प्रयत्न में बार बार असफल हो जाने से मनुष्य का मन उस प्रयत्न से ऊब जाता है। जब वह ही प्रयत्न को उसे फिर से करना पड़ता है तब वह अपनी कर्तव्य बुद्धि से उस काम में लगने आवश्यक जाता है परन्तु वह उसे भीतरी मन से नहीं चाहता ऐसी अवस्था में वह किसी रोग का आवाह करता है और उसे फिर कोई ऐसा रोग हो जाता है, जिससे कि वह अपने अप्रिय कर्तव्य के करने बच जाय। जब किसी विद्यार्थी की परीक्षा के लिये तैयारी ठीक से नहीं होती तो ऐसे विद्यार्थी के तरह तरह के शारीरिक रोग आ जाते हैं। कितने ही विद्यार्थियों को ठीक परीक्षा ही के समय ज्वर, पेट की पीड़ा, सिर की पीड़ा अथवा आँख आ जाती हैं। किसी किसी विद्यार्थी को परीक्षा के समय अनिद्रा का रोग हो जाता है और इसके कारण वह परीक्षा में बैठने में असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार के रोगों का मानसिक कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने आप को किसी कार्य के लिये असमर्थ अथवा निर्बल मानने को तैयार नहीं है। अपने आप को निर्बल मानने से हमें क

व्यक्तित्व में एकीकरण स्थापित करने का कार्य कर रही है। इस कार्य में हम सहायता विचार के द्वारा भी दे सकते हैं। जो मनुष्य मानव-स्वभाव की बनावट को अनेक तरह से समझ कर उस विभिन्न अंगों की अवहेलना न कर उनके विकास और प्रकाशन का समुचित अवसर देता है वह व्यक्तित्व विभाजन की अवस्था में नहीं आता। व्यक्तित्व का विभाजन तभी होता है जब मनुष्य अपने स्वभाव के किसी अंग की अवहेलना करता है और उसे छूट मानकर समाप्त कर देने की चेष्टा करता है। व्यक्तित्व के विभाजन को रोकने के लिये और सम्पूर्ण मानसिक एकीकरण प्राप्त करने के लिये मनुष्य को एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता होती है जो उसके जीवन को सम्पूर्ण की ओर ले जा सके। मनुष्य के जीवन के मुख्य विभिन्न प्रकार के होते हैं। इन मूल्यों में उचित तारतम्य स्थापित करने और फिर सभी मूल्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करने से मनुष्य व्यक्तित्व पूर्णता की ओर जाता है। जब मनुष्य विवेक शून्य होकर किसी विशेष प्रकार के मूल्यों उनका उचित स्थान नहीं देता और उसका मन इन मूल्यों का लालायित रह जाता है तो वह का एक भाग मन के दूसरे भाग से अलग रहकर इस छूटे हुए मूल्य की प्राप्ति में लग जाता है परन्तु मूल्यों में तारतम्य स्थापित करना साधारण कार्य नहीं है। मनुष्य जीवन के विभिन्न प्रकार मूल्यों में तभी तारतम्य स्थापित कर सकता है जब कि उसे जीवन के अन्तिम लक्ष्य के विषय में थो बहुत ज्ञान हो। जीवन के अन्तिम लक्ष्य पर विचार किये बिना मनुष्य न तो अपने जीवन के मूल में तारतम्यता स्थापित कर सकता है और न वह अपने व्यक्तित्व का एकीकरण कर सकता है। यदि ये देखने पर पता चलता है कि व्यक्तित्व की एकता प्राप्त करना एक बड़े पुरुषार्थ का कार्य यह पुरुषार्थ विवेक शील व्यक्ति का सर्वोपरि कार्य होता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने का निरीक्षण करता है और इस निरीक्षण को ध्यान में रखते हुए जीवन के प्रति उचित चर्चा अपनाता है वही व्यक्तित्व का एकीकरण प्राप्त करता है।

ही वेदना होती है। इससे हमारे स्वाभिमान को घक्का लगता है। स्वाभिमान को घक्का देने वाली प्रत्येक घटना से बचने के लिये हम किसी न किसी बहाने की खोज करते हैं। शारीरिक रोग इसी बहानेबाजी के कारण होता है। वह हमें अप्रिय कर्तव्य से बचाता है। आंतरिक इच्छा ही इसकी उपस्थिति का कारण होती है।

कभी कभी शारीरिक रोग किसी ऐसी भावना अथवा इच्छा के दमन करने से उत्पन्न होता है जिसे हमारा ही आन्तरिक स्वत्व अनैतिक मानता है। हमारी अनैतिक मानी हुई इच्छाएं जब प्राकृतिक रूप से प्रकट होने में रुकावट पाती हैं, तब वे उनके निकलने के अनोखे उपाय खोज लेती हैं। ये दबी हुई इच्छाएँ निरर्थक अशिश्ट शारीरिक चेष्टाओं में अथवा शारीरिक रोग के रूप में प्रकाशित होती हैं। यदि दमित इच्छा अथवा भावना किसी विशेष परिस्थिति से सम्बन्धित है तो हम अपने अचेतन मन में उस परिस्थिति से डरा करते हैं। यदि फिर कभी हमें वैसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़ता है तो हमें अचानक कोई ऐसा शारीरिक रोग हो जाता है जो उस परिस्थिति से डरका प्रतीक होता है। कितने ही लोगों को अरिचित्त व्यक्ति से बातचीत करते समय, सभा में प्रवचन करते समय, परीक्षा में बैठते समय असाधारण हृदय की धड़कन होने लगती है। मनोविश्लेषण विधि द्वारा जब इस प्रकार की धड़कन का कारण खोजा जाता है, तो वह कारण किसी पुरानी एक घटना में मिलता है, जो पहले पहले भय उत्पन्न की थी। यह घटना प्रायः बचपन के समय होती है। व्यक्ति के अचेतन मन में संचित बचपन के भय का भाव कभी कभी ऐसे व्यक्ति अथवा परिस्थिति पर आरोपित हो जाता है, जिनसे साधारणतः डरने का कोई कारण नहीं। अतएव दूसरे लोगों का इस प्रकार का भय मूर्खता पूर्ण दिखाई पड़ता है। परन्तु स्वयं डरने वाले व्यक्ति के जीवन में उनका कारण रहता है और यह कारण उनके अचेतन मन में वर्तमान काल में भी उपस्थित रहता है। व्यक्ति का दमित भय एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति पर ऊपरी समानता के कारण भी स्थानान्तरित हो जाता है।

कितने ही व्यक्तियों को झूठे शारीरिक रोग होते हैं। ये रोग ऊपर से देखने में सच्चे शारीरिक रोग जैसे ही लगते हैं। परन्तु उनमें कोई शरीर की आंगिक क्षति नहीं होती। इन रोगों के होने पर व्यक्ति को दुख वैसा ही होता है, जैसा सच्चे शारीरिक रोग में और शारीरिक असक्तता सच्चे शारीरिक रोग जैसे ही हो जाती है। इन रोगों का साधारण चिकित्सक न तो कारण ही समझ सकते हैं और न किसी प्रकार का उपचार ही कर सकते हैं। इस प्रकार के रोगों का कारण हमारे अचेतन मन में उपस्थित कोई ऐसी इच्छा रहती है जो इन रोगों की उपस्थिति के बिना सन्तुष्ट नहीं होती। लड़ाई के समय बहुत से सिपाहियों को लकवा का रोग हो जाता है। यह रोग उनकी लड़ाई में लड़ने की अनिच्छा के कारण उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार के लकवा में कोई शरीर की क्षति नहीं होती। अपने स्नेही जन से तिरस्कृत होने पर कितने ही युवक और युवतियों को भारी पेट की पीड़ा हो जाती है। डाक्टरों विधि से इस प्रकार की पीड़ा का कारण खोजने पर कुछ भी कारण नहीं दिखलाई देता। इस प्रकार का रोग अपने स्नेही का अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये होता है। दूसरे व्यक्ति द्वारा तिरस्कृत होने से जो आत्मवेदना होती है उसे भुलाने के लिये भी उपयुक्त प्रकार के रोग होते हैं। ये रोग अपने आप को भुलाने के परिणाम स्वरूप होते हैं और उनका उद्देश्य भी आत्मविस्मृति है। यदि मनुष्य को ये वेदनाएँ न हों तो उसकी मानसिक वेदना इतनी शसस्त्र हो जाय कि वह आत्म हत्या के लिये उद्यत हो जाय।

शारीरिक रोगों का मानसिक आधार

‘श्री पशुपतिनाथ मुफर्जी एम० ए०’

आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से पता चला है कि मनुष्य को बहुत से शारीरिक रोग हल लिये होते हैं कि उसके मन में कोई ऐसी भावना है, जो इस रोग की उपस्थिति से सन्तुष्ट होती है। किसी प्रयत्न में बार बार असफल हो जाने से मनुष्य का मन उस प्रयत्न से ऊब जाता है। जब ऐसे ही प्रयत्न को उसे फिर से करना पड़ता है तब वह अपनी कर्तव्य बुद्धि से उस काम में लग तो अवश्य जाता है परन्तु वह उसे भीतरी मन से नहीं चाहता ऐसी अवस्था में वह किसी रोग का आवाहन करता है और उसे फिर कोई ऐसा रोग हो जाता है, जिससे कि वह अपने अभिय कर्तव्य के करने से बच जाय। जब किसी विद्यार्थी की परीक्षा के लिये तैयारी ठीक से नहीं होती तो ऐसे विद्यार्थी को तरह तरह के शारीरिक रोग आ जाते हैं। कितने ही विद्यार्थियों को ठीक परीक्षा ही के समय ज्वर, पेट की पीड़ा, सिर की पीड़ा अथवा आँख आ जाती हैं। किसी किसी विद्यार्थी को परीक्षा के समय अनिद्रा का रोग हो जाता है और इसके कारण वह परीक्षा में बैठने में असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार के रोगों का मानसिक कारण यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने आप को किसी कार्य के लिये असमर्थ अथवा निर्बल मानने को तैयार नहीं है। अपने आप को निर्बल मानने से हमें बड़ी

व्यक्तित्व में एकीकरण स्थापित करने का कार्य कर रही है। इस कार्य में हम सहायता विचार के द्वारा भी दे सकते हैं। जो मनुष्य मानव-स्वभाव की बनावट को अनेक तरह से समझ कर उसके विभिन्न अंगों की अवहेलना न कर उनके विकास और प्रकाशन का समुचित अवसर देता है वह व्यक्तित्व विभाजन की अवस्था में नहीं आता। व्यक्तित्व का विभाजन तभी होता है जब मनुष्य अपने स्वभाव के किसी अंग की अवहेलना करता है और उसे अछूत मानकर समाप्त कर देने की चेष्टा करता है। व्यक्तित्व के विभाजन को रोकने के लिये और सम्पूर्ण मानसिक एकीकरण प्राप्त करने के लिये मनुष्य को एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता होती है जो उसके जीवन को सम्पूर्णता की ओर ले जा सके। मनुष्य के जीवन के मूल्य विभिन्न प्रकार के होते हैं। इन मूल्यों में उचित तारतम्य स्थापित करने और फिर सभी मूल्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करने से मनुष्य का व्यक्तित्व पूर्णता की ओर जाता है। जब मनुष्य विवेक शून्य होकर किसी विशेष प्रकार के मूल्यों को उनका उचित स्थान नहीं देता और उसका मन इन मूल्यों का लालाछित रह जाता है तो मन का एक भाग मन के दूसरे भाग से अलग रहकर इस छूटे हुए मूल्य की प्राप्ति में लग जाता है। परन्तु मूल्यों में तारतम्य स्थापित करना साधारण कार्य नहीं है। मनुष्य जीवन के विभिन्न प्रकार के मूल्यों में तभी तारतम्य स्थापित कर सकता है जब कि उसे जीवन के अन्तिम लक्ष्य के विषय में थोड़ा बहुत ज्ञान हो। जीवन के अन्तिम लक्ष्य पर विचार किये बिना मनुष्य न तो अपने जीवन के मूल्यों में तारतम्यता स्थापित कर सकता है और न वह अपने व्यक्तित्व का एकीकरण कर सकता है। इस दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि व्यक्तित्व की एकता प्राप्त करना एक बड़े पुरुषार्थ का कार्य है। यह पुरुषार्थ विवेक शील व्यक्ति का सर्वोपरि कार्य होता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने आ का निरीक्षण करता है और इस निरीक्षण को ध्यान में रखते हुए जीवन के प्रति उचित दृष्टिकोण अपनाता है वही व्यक्तित्व का एकीकरण प्राप्त करता है।

ही वेदना होती है। इससे हमारे स्वाभिमान को घक्का लगता है। स्वाभिमान को घक्का देने वाली प्रत्येक घटना से बचने के लिये हम किसी न किसी बहाने की खोज करते हैं। शारीरिक रोग इसी बहानेबाजी के कारण होता है। वह हमें अप्रिय कर्तव्य से बचाता है। आंतरिक इच्छा ही इसकी उपस्थिति का कारण होती है।

कभी कभी शारीरिक रोग किसी ऐसी भावना अथवा इच्छा के दमन करने से उत्पन्न होता है जिसे हमारा ही आन्तरिक स्वत्व अनैतिक मानता है। हमारी अनैतिक मानी हुई इच्छाएँ जब प्राकृतिक रूप से प्रकट होने में रुकावट पाती हैं, तब वे उनके निकलने के अनोखे उपाय खोज लेती हैं। ये दबी हुई इच्छाएँ निरर्थक अशिष्ट शारीरिक चेष्टाओं में अथवा शारीरिक रोग के रूप में प्रकाशित होती हैं। यदि दमित इच्छा अथवा भावना किसी विशेष परिस्थिति से सम्बन्धित है तो हम अपने अचेतन मन में उस परिस्थिति से डरा करते हैं। यदि फिर कभी हमें वैसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़ता है तो हमें अचानक कोई ऐसा शारीरिक रोग हो जाता है जो उस परिस्थिति से डरका प्रतीक होता है। कितने ही लोगों को अग्ररचित व्यक्ति से बातचीत करते समय, सभा में प्रवचन करते समय, परीक्षा में बैठते समय असाधारण हृदय की धड़कन होने लगती है। मनोविश्लेषण विधि द्वारा जब इस प्रकार की धड़कन का कारण खोजा जाता है, तो वह कारण किसी पुरानी एक घटना में मिलता है, जो पहले पहले भय उत्पन्न की थी। यह घटना प्रायः बचपन के समय होती है। व्यक्ति के अचेतन मन में संचित बचपन के भय का भाव कभी कभी ऐसे व्यक्ति अथवा परिस्थिति पर आरोपित हो जाता है, जिनसे साधारणतः डरने का कोई कारण नहीं। अतएव दूसरे लोगों का इस प्रकार का भय मूर्खता पूर्ण दिखाई पड़ता है। परन्तु स्वयं डरने वाले व्यक्ति के जीवन में उनका कारण रहता है और यह कारण उनके अचेतन मन में वर्तमान काल में भी उपस्थित रहता है। व्यक्ति का दमित भय एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति पर ऊपरी समानता के कारण भी स्थानान्तरित हो जाता है।

कितने ही व्यक्तियों को झूठे शारीरिक रोग होते हैं। ये रोग ऊपर से देखने में सच्चे शारीरिक रोग जैसे ही लगते हैं। परन्तु उनमें कोई शरीर की आंगिक क्षति नहीं होती। इन रोगों के होने पर व्यक्ति को दुख वैसा ही होता है, जैसा सच्चे शारीरिक रोग में और शारीरिक असक्तता सच्चे शारीरिक रोग जैसे ही हो जाती है। इन रोगों का साधारण चिकित्सक न तो कारण ही समझ सकते हैं और न किसी प्रकार का उपचार ही कर सकते हैं। इस प्रकार के रोगों का कारण हमारे अचेतन मन में उपस्थित कोई ऐसी इच्छा रहती है जो इन रोगों की उपस्थिति के बिना सन्तुष्ट नहीं होती। लड़ाई के समय बहुत से सिपाहियों को लकवा का रोग हो जाता है। यह रोग उनकी लड़ाई में लड़ने की अनिच्छा के कारण उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार के लकवा में कोई शरीर की क्षति नहीं होती। अपने स्नेही जन से तिरस्कृत होने पर कितने ही युवक और युवतियों को भारी पेट की पीड़ा हो जाती है। डाक्टरों विधि से इस प्रकार की पीड़ा का कारण खोजने पर कुछ भी कारण नहीं दिखलाई देता। इस प्रकार का रोग अपने स्नेही का अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये होता है। दूसरे व्यक्ति द्वारा तिरस्कृत होने से जो आत्मवेदना होती है उसे भुलाने के लिये भी उपयुक्त प्रकार के रोग होते हैं। ये रोग अपने आप को भुलाने के परिणाम स्वरूप होते हैं और उनका उद्देश्य भी आत्मविस्मृति है। यदि मनुष्य को ये वेदनाएँ न हों तो उसकी मानसिक वेदना इतनी शस्रह्य हो जाय कि वह आत्म हत्या के लिये उद्यत हो जाय।

अतएव रोग प्रकृति का रोगी की जीवन रक्षा का उपाय है।

प्रत्येक प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक रोग का उद्देश्य तीन प्रकार का होता है—

(१) अवसृष्ट मनसिक शक्तिका निष्कासन।

(२) नैतिक भावना (सुपर इगो) को सान्त्वना देना। ये रोग नैतिक भावनाके समक्ष दृश्य

रूपमें दिखाई देते हैं।

(३) मनुष्यके अभिमान स्वत्वको अपनी कमजोरियों के लिये बहाना उपस्थित करना अथवा उसे आत्मग्लानिकी वेदनासे बचना।

हिस्टीरियाके रोगीमें रोगीका व्यक्तित्व विभाजित हो जाता है। रोगी सदा मानसिक बेचैनीके अवस्थामें रहता है कभी कभी यह मानसिक बेचैनी नये व्यक्तित्वके रूपमें प्रकट हो जाती है। रोगक वास्तविक कारण न जाननेके कारण इस प्रकारके रोगको भूत बाधा कहा जाता है। कभी कभी ऐसे रोगीमें मनुष्यका कोई अंग शून्य हो जाता है। कभी सुननेकी कभी देखनेकी और कभी बोलनेकी शक्ति कुछ समयके लिये समाप्त हो जाती है। ऐसे रोगीका साधारण वैद्य और डाक्टर कोई उपचार नहीं कर पाते। इन रोगीके अध्ययनसे पता चलता है कि ये रोग मनुष्यकी किसी आन्तरिक इच्छाकी पूर्ति करते हैं। प्रतिकूल वातावरणमें रहने पर झूठा अन्धापन आ जाता है, बार बार कटु आलोचना सुननेसे मनुष्यको बहरापन हो जाता है, और आस पासके लोगोंसे बोलनेकी इच्छा न रहनेके कारण गूंगापर आ जाता है। इस आन्तरिक इच्छाका ज्ञान न तो स्वयं उस रोगीको रहता और न उसके आस पास रहने वाले व्यक्तिको भी हो पाता है।

हकलाना एक शारीरिक रोग है, परन्तु यह रोग अधिकतर मानसिक कारणोंसे होता है। प्रेकर द्वारा दिया हुआ एक हकलाने वाले बालकका उदाहरण इस प्रसंगमें उल्लेखनीय है। यह बालक बहुत समयसे हकलाता था। इसके मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन से पता चला कि यह शैशव कालमें मलमूत्रसे खेलता था और इसके लिये वह बहुधा दण्डित होता था। इसके कारण उसे मलमूत्रसे खेलनेकी इच्छा दमित हो गई परन्तु अब उसे कोष्ठ वद्धताका रोग हो गया अर्थात् उसके मल त्याग करनेमें कठिनाई होने लगी। इस दमनका एक परिणाम यह हुआ कि वह अपने आप उपस्थित गन्दगीको गन्दे शब्दों द्वारा छिड़ने लगा। इसके लिये भी वह डाँटा गया तब उसे हकलाने का रोग हो गया। इस प्रकार यह रोग व्यक्तिकी शैशव कालकी स्वाभाविक इच्छाके दमनके परिणाम स्वरूप हुआ था और हकलानेमें यह इच्छा विकृत रूपसे व्यक्त हो रही थी। वह आन्तरिक इच्छा व्यक्ति और उसके अभिभावकोंसे बदला ले रही थी।

एडलर महाशयका कथन है कि जब मनुष्यकी दूसरों पर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी इच्छाका दमन होता है तब वह रोगी बनकर इस इच्छाकी विकृत रूपसे पूर्ति करता है। रोगी मनुष्यकी सेवा घरके सार्वभौमिकोंको बाध्य होकर करनी ही पड़ती है। जिन स्त्रियोंका घरमें तिरस्कार अधिक होता है और जिनका सम्मान पानेकी इच्छा प्रबल होती है वे रोगी बनकर दूसरोंका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती हैं।

एडलरके उपर्युक्त कथनको दूसरे प्रकारसे भी समझाया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्तिमें दूसरों के प्रेम प्राप्त करनेकी बड़ी प्रबल इच्छा होती है। जब मनुष्यको अपने स्वजनोंका प्रेम नहीं मिलता तो वह रोगी बन जाता है बालकों को ऐसे रोग बहुत अधिक होते हैं परन्तु प्रौढ़ व्यक्तियों को भी कभी-कभी होते हैं। हममें से बहुत से व्यक्ति शरीर से प्रौढ़ होते हुए भी आन्तरिक मन से बच्चे ही रह जाते हैं और दूसरों का स्नेह प्राप्त करने के लिये रोगी के विकृत मार्ग का सहारा लेते हैं।

प्रेम रोग

श्री निरंकारदेव सेवक

प्रेम एक रोग है। वह अनजाने ही मनुष्यों को लग जाता है और असह्य पीड़ा देता है। मानसिक रोग प्रेम से होते हैं। जिस व्यक्ति की प्रेम की भावना जितनी प्रबल होती है उसकी मानसिक रोगी बनने की सम्भावना भी उतनी ही अधिक होती है। जब प्रेम की बाढ़ होती है तब वह मनुष्य के विवेक को हटा देती है। वह अपने आपको समझाल नहीं पाता। वह विलक्षण प्रकार का रोगी बन जाता है। प्रेम एक प्रकार की सरिता है, जब वह सुचारु रूप से बहती है तो उसके आस पास चहल पहल मच जाती है। जब इस सरिता के प्रवाह में रुकावट होती है तब वह सभी आस पास की वस्तुओं को नष्ट कर देती है। जब प्रेम में रुकावट होती है तो वह मनुष्य को देवता से पिशाच, प्रतिभान को विक्षिप्त और शूरवीर को निकम्मा बना देता है। प्रेम आनन्द और आरोग्य का उद्गम स्थान है, परन्तु यही दुःख और चटिल रोगों का जनक भी है। कवियों ने प्रेम को रोग कहा है और मैं भी इसे एक रोग कहूँ तो कुछ बुरा नहीं करूँगा। इतने अधिक युवक और युवतियों की प्रेम

मानसिक वैचैनी के कारण मनुष्य को कभी-कभी वास्तविक शारीरिक रोग भी हो जाया करते हैं। किसी व्यक्ति के प्रति बहुत दिन तक दुर्भावना मन में लाने से मनुष्य को पेट का फोड़ा हो जाता है। बिन लोगों को हम देखना नहीं चाहते उन्हें बाध्य होकर देखने के कारण आँख की वास्तविक क्षति हो जाती है। यदि किसी स्त्री का दाम्पत्य-जीवन असन्तुष्ट हो, यदि उसे अपने पति के काम व्यवहार में सन्देह हो तो उसे दमा का रोग हो जाता है। दमा रोगी के अचेतन मन में उपस्थित मृत्यु की इच्छा का द्योतक है। जब जीवन के कष्ट अधिक बढ़ते हैं तो दमा बढ़ जाता है।

वाल्स और हंगलिस महाशय ने अपनी एक पुस्तक में एक महिला का बड़ा ही शिक्षाप्रद उदाहरण दिया है जो इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। इस महिला को आरग्रीटिस नामक रोग हुआ था। इसे इस रोग में रुधिर चाप अत्यधिक बढ़ जाता था। जब उसके जीवन की स्थिति अच्छी रहती थी तब उसका रोग नहीं रहता था और जब कभी जीवन के कष्ट बढ़ते थे तो उसका रोग भी बेहद बढ़ जाता था और उसे अस्पताल पहुँचाना पड़ता था। पेट के रोग, चर्म रोग, रुधिर चाप, हृदय की बड़कन आदि रोगों में देखा गया है कि जिस वातावरण में व्यक्ति रहता है वे उसके प्रतिकूल रहते हैं। मन का विष अर्थात् अप्रिय भावनायें और कलुषित विचार शारीरिक विष बन जाते हैं।

मनुष्य को स्वास्थ्य बहुत कुछ उसके संवेगों पर निर्भर करता है। यदि किसी मनुष्य को बार-बार दुःखद संवेगों का अनुभव करना पड़ता है तो वह अपने शारीरिक आरोग्य को ही खो देता है। बार-बार भय, क्रोध, ईर्ष्या, श्लानि, निराशा और संदेह की अनुभूति से मनुष्य का शारीरिक गठन ढीला पड़ जाता है। ऐसे व्यक्ति का न केवल मानसिक एकीकरण विनष्ट हो जाता है वरन् उसकी शारीरिक व्यवस्था भी बिगड़ जाती है। इन भावों को बार-बार अनुभव करनेवाले व्यक्ति की इच्छा शक्ति दुर्बल हो जाती है। दुर्बल इच्छाशक्ति वाले व्यक्ति को वातावरण में उपस्थित जहरीले मानसिक और भौतिक कीटाणु सरलता से पकड़ लेते हैं। उसका मन अपने आप में बुरे विचारों का आना नहीं रोक पाता। इसी प्रकार उसका शरीर भी जहरीले कीटाणु का आना नहीं रोक पाता।

कथाओं के अनुभव मेरे पास संग्रहीत हैं कि जिनके आधार पर इसे एक रोग मानने के अतिरिक्त और किन्हीं निष्कर्ष पर पहुँच सकना ही कठिन है। विद्यार्थी कालीन जीवन में मेरे एक सहपाठी थे, जिनके मन में कालिज की एक छात्रा को देख कर एक हल्का-हल्कासा दर्द उठा करता था। जब अन्य छात्र कक्षा में मगलगाकर पढ़ते रहते थे और अपने घन और उमय का सदुपयोग करते रहते थे हमारे यह मित्र एक नीचे के पेड़ के नीचे जिसके पास की सड़क पर से उस छात्रा के गुजरने की आशा या सम्भावना थी अकेले खड़े सोचते से घूमते रहते थे। छात्रा, रंग, रूप, परिवार, समाज इत्यादि किसी भी दृष्टि से उनकी ओर देखने वाली न थी; किन्तु इन्हें कई वर्ष तक यह आशा रही कि कभी एक दृष्टि उसकी ओर भी उठ जाये तो धन हो जाऊँ। इस आशा में उन्होंने अपने सहपाठी मित्रों से भी अधिक मिलना जुलना छोड़ दिया था और सदैव अपने कक्षा में प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी रह चुकने के उपरान्त भी असफल रह जाने में भी अपना कोई अपराध न समझते थे। उनका मन ही जब उनके वश में न रहा, वह बेचारे क्या करते? घर भी माई बहिन और बाप से वैसा व्यवहार करते होंगे अथवा नहीं, इसे हम केवल कालिज से सम्बन्धित रहने के कारण नहीं जान पाते थे किन्तु यह अवश्य समझते थे कि घर पर भी किसी बात में उनका मन नही लगता होगा और वह किसी के प्रिय न होंगे।

एक अत्यन्त सभ्रान्त महिला एक बार एकान्त में अवसर पाकर मुझसे कह उठी, “तुम मेरी किसी बात पर कभी गम्भीरता से विचार क्यों नहीं करते हो?” मैं उसकी बात का मतलब कुछ समझ नहीं सका। किन्तु बाद में धीरे धीरे पता लगा कि मेरी हर एक बात पत्थर की लकीर की तरह उनके हृदय पर जम कर रह जाती है। वह किसी भी समय मेरा ध्यान अपने मन से अलग ही नहीं कर पाती। यही कभी दो चार दिन किसी भी कारण से मुझे न देख पाएँ तो उसे न खाने की हठ्छा होती और न नी आती। वह अपने पति और बच्चों के सामने बहुत ही सजग और सतर्क रहने की चेष्टा करती थी, कि फिर भी जाने अनजाने कभी कभी ऐसी मूल कर देती जिस पर सब हँसते या झुपित होते। पति के प्रति प्रेम कम नहीं किन्तु जो सुख मेरे दर्शन मात्र से मिल जाता, वह उनके सहवास से भी प्राप्त नहीं होता। बच्चों के प्रति ममता में कुछ कमी आ गई है।

मेरे एक व्यापारी मित्र जो पहले घनी और स्वस्थ थे, एक छी के प्रेम में फँस जाने से वे पाला जैसे दिखाई देते हैं। वे अपने आपको ही मूल जाते हैं। उनकी यह दशा तब से हुई जबसे उनसे वणिक बात एक सरल चित्त महिलासे हुई। अब उसका चिन्तन उन्हें परेशान किये हुए है। प्रेम जितना ही प्रशंसनीय है उतना ही निन्द्य है। वह जीवनका सार है और रोग की जड़ है। प्रेम आनन्द का स्रोत है और वही दुःख और पागलपन का जनक है। प्रेम मनुष्यको विवेकहीन बना देता है इस रोगसे मनुष्य मुक्त कैसे हो!

इससे मुक्त होनेका एक उपाय प्रेमकी प्रतिमा खड़ी करना है। प्रेमको भुलानेसे प्रेम पागल बन जाता है। प्रेम पर विचार करना ही प्रेम रोगसे मुक्त होनेका सर्वोत्तम उपाय है। प्रेम रोगसे मुक्त होनेका दूसरा उपाय प्रेमका प्रसार है। एक व्यक्तिका प्रेम दुःखद होता है। जब इसी प्रेमको व्यापक कर दिया जाता है तो वह मानविक समता लाता है। प्रेमके त्यागसे मनुष्य प्रेम बंधनसे मुक्त नहीं होता इससे वह और भी जटिल रोगी बन जाता है। प्रेमकी पूर्ति और उसका प्रसार प्रेमको विषके बदले अमृत परिणत कर देते हैं। विरह की दुःखद गाथा गाकर कितने प्राणी अपने जीवनको कुतकृत कर लेते हैं यह प्रेमका मूर्तिकरण है। किसी सहृदय मित्रसे प्रेमकी टीस बतानेसे वह कम होती है। फिर प्रेम मनुष्यको पागलपन और आत्म-विनाश से बचाकर देवता बना देता है। यह प्रेम रोगका रेचन है।

नींद और मानसिक स्वास्थ्य

(लेखक—रमेशचन्द्र शुक्ल)

नींद और हमारे शारीरिक स्वास्थ्य में घनिष्ठ संबंध है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक स्वस्थ होता है उतनी ही अच्छी नींद आती है। इसके विपरीत जिस आदमीका स्वास्थ्य सन्तोषजनक नहीं होता उसकी नींद भी उतनी ही अपूर्ण व असन्तोषजनक होती है। उत्तम शारीरिक स्वास्थ्यके लिए गहरी और निर्विघ्न नींद अत्यन्त आवश्यक है। नींद के द्वारा हम प्राकृतिक रूप से दैनिक क्रिया कलापों में क्षीण होने वाली शक्ति को पुनः प्राप्त कर लेते हैं। जब हमें गहरी व निर्विघ्न नींद नहीं आती तो हमारा स्वास्थ्य प्रति दिन गिरता जाता है; किन्तु नींद का महत्त्व शारीरिक स्वास्थ्य तक ही सीमित नहीं है। हमारा मानसिक स्वास्थ्य भी निद्रा से सम्बन्धित है। निद्रा की प्रक्रिया एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। सभी प्राणियों में सोने की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूपसे पायी जाती है अतएव यह मूल प्रवृत्तिजन्य है। हमारे मानसिक संगठन और मानसिक प्रक्रियाओं को समझनेमें निद्रा के अध्ययन से बड़ी सहायता मिलती है। किसी भी व्यक्ति की निद्राका व सुतावस्था की मानसिक एवं शारीरिक प्रक्रियाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके उसके व्यक्तित्व के अनेक पक्षों को कुशलता पूर्वक समझा जा सकता है। मानसिक रोगियों और सामान्य स्वस्थ व्यक्ति की नींद में बड़ा अन्तर होता है। कुशल मनोविश्लेषक जटिल मानसिक रोगों में रोगियों के मनोविश्लेषण में उनकी नींद के विश्लेषण को भी महत्त्व देते हैं।

निद्रावस्था की सबसे पहली विशेषता बाह्य-उत्तेजनाओंके प्रति उदासीनता है। किसी सोए हुए व्यक्ति के सामने आप भीमे स्वरमें चाहे कितनी ही बातें क्यों न कीजिए वह उत्तर नहीं देने का। उसके चेहरे पर धीरे-धीरे हाथ फेरिए तो भी वह स्पर्श का अनुभव नहीं करता। प्रयोग के द्वारा देखा गया है कि कितने ही व्यक्ति निद्रावस्था में हाइड्रोजन-क्लोराइड जैसी विषरसक गंध वाली गैस की गंध का भी अनुभव नहीं करते। किन्तु बाह्य-उत्तेजनाओं के प्रति उदासीनता के साथ निद्रावस्था की एक और विशेषता है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति निद्रावस्था में घुमी आवाज और कभी-कभी जोर की आवाज का भी अनुभव नहीं करता किन्तु गहरी से गहरी नींद में सोई हुई माता अपने अस्वस्थ बच्चे की अत्यन्त घुमी आवाज से भी जाग उठती है। अतएव यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता की निद्रावस्था में हमारी संवेदन शक्ति हर प्रकार से प्रसुप्त हो जाती है।

बहुत से लोग सोने से पहले निश्चित कर लेते हैं कि उन्हें इतने समय जागना है और वे ठीक उसी समय उठ जाते हैं। कैथरीन ओमवेक नामक एक महिला मनोवैज्ञानिक ने फालेज की २० छात्राओं पर निश्चित समय पर जागने सम्बन्धी कुछ प्रयोग किए। इनमें से आधी छात्राएँ निर्देशित समय के ३० मिनट के आस-पास तक जाग जाती थीं, किन्तु ठीक २ निश्चित समय पर जागने वाली केवल एक ही छात्रा निकली। प्रयोगों का करते समय देखा गया कि निश्चित समय के आसपास वही छात्राएँ उठ पाती थीं जो पूरी तरह विश्वास करके सोती थीं कि वे निश्चित समय पर या उसके आसपास अवश्य उठ जायेंगी।

वास्तव में हमारी निद्रावस्था में हमारा चेतन मन तो सोता रहता है, किन्तु अचेतन उस समय भी क्रियाशील रहता है। जब हम पूर्ण विश्वास के साथ अपने आपको कोई निर्देश देते हैं तो उससे हमारा अचेतन मन भी प्रभावित होता है। सोने के पूर्व बिना शंका के द्वारा दिए गए निश्चित समय पर जागने के आत्मनिर्देश को हमारा अचेतन-मन ग्रहण कर लेता है और निश्चित समय पर हमारी नींद को

मंग करने में सहायक होता है, इस दृष्टि से निद्रा और सम्मोहन में बड़ी समानता है।

निद्रा की प्रकृति के विषय में लोगों का पहले यह विश्वास था कि निद्रा का प्रमुख कारण मस्तिष्क की शिराओं में रक्त चाप का कम होना है। जब हम परिश्रम करके थक जाते हैं तो मस्तिष्क की ओर प्रवाहित होने वाले रक्त का दबाव कम हो जाता है और धीरे धीरे हमारी चेतना लुप्त हो जाती है तथा हम निद्रा के वशीभूत हो जाते हैं, किन्तु उपरोक्त सिद्धान्त की सत्यता संदिग्ध है। मस्तिष्क में रक्त-चाप की कमी निद्रा का कारण नहीं अपितु निद्रा के परिणाम स्वरूप होता है। आन्त होने पर मस्तिष्क में रक्त नहीं अपितु सारे शरीर में रक्त-चाप घीमा हो जाता है। सोये हुए मनुष्य का रक्त चाप क्रियाशील मनुष्य की अपेक्षा घीमा होता है।

मैथियास ज्युवेल नामक चिकित्सक ने निद्रा की प्रकृति के विषय में एक विलक्षण कल्पना की उनके अनुसार हमारे शरीर में व्याप्त न्यूरोन कणों के सिकुड़ने के कारण ही हमें नींद आती है। अधिक परिश्रम करने से ये न्यूरोन शक्तिहीन होकर सिकुड़ जाते हैं, ऐसी अवस्था में स्नायुविक उत्तेजना एक न्यूरोन से दूसरे न्यूरोन तक नहीं पहुँच पाती और शरीर चेतनाहीन हो जाता है।

जानसन नामक एक चिकित्सक ने न्यूरोन कणों के ऊपर आधारित एक भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। १९२३ में "जरनल आफ एवनारमल एण्ड सोसल साइकलाजी" नाम पत्रिका में प्रकाशित अपने एक लेख "स्लीप एज ए स्पेसलाइज्ड फंगशन" में उन्होंने बताया कि हमारे शरीर में एक विशेष प्रकार के न्यूरोन होते हैं जो कि शरीर की थकावट की अवस्था में हमारे स्नायु मंडल को क्रियाशील बनाए रखने वाले न्यूरोन कणों को शक्तिहीन कर देते हैं और शरीर को चेतनाहीन बना देते हैं, किन्तु यह सिद्धान्त भी निद्रा सम्बन्धी सभी तथ्यों का विश्लेषण नहीं कर पाता।

उन्नीसवीं शताब्दी में मार्शल हाल और प्रायर महाशय ने निद्रा का कारण शारीरिक क्रियाओं के परिणाम स्वरूप उत्पन्न एक प्रकारके विषैले पदार्थ "टाक्सीन" को बताया किन्तु "टाक्सीन" की मात्रा अनिद्रा से पीड़ित व्यक्तियों में ही अधिक पाई जाती है, इस प्रकार से यह सिद्धान्त भी मिथ्या सिद्ध होता है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से नींद की प्रवृत्ति एक मूलप्रवृत्ति है जिस प्रकार से क्षुधा एक मूलप्रवृत्ति और स्वाभाविक रूप से हम क्षुधावृत्ति की चेष्टाओं में रत होते हैं - उसी प्रकार शारीरिक एवं मानसिक थकावट होने पर हम सो भी जाते हैं। निद्रा का थकावट के कारण उत्पन्न हुए शारीरिक विषों से हलो सिवा और कोई सम्बन्ध नहीं कि जब 'टाक्सीन' या 'निकोटीन' जैसे विषैले पदार्थ अधिक परिमाण में शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं तो अनिद्रा का रोग उत्पन्न हो जाता है। नींद को हम एक प्रकार से प्राणियों की अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनाने की प्रवृत्तिजन्य प्रक्रिया भी मान सकते हैं। सामान्यतः अधिकांश प्राणी अन्धकार में नहीं देख सकते अतएव जीवन की सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि वे विविध परिस्थितियों में अपने क्रियाकलापों से बचत हो जायें। निद्रा के द्वारा यह कार्य स्वाभाविक रूप से हो जाता है।

मानसिक रोगों और अन्तर्द्वन्द्व की उपस्थिति के समय रोगी की नींद में भी अस्वाभाविकता आ जाती है। मानसिक रोग और अनिद्रा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। कोई भी मानसिक रोगी जबतक उसके मानसिक रोग का अन्त नहीं हो जाता स्वस्थ और गहरी नींद का आनन्द नहीं ले सकता। शारीरिक कार्यों की अपेक्षा अनिद्रा के मानसिक कारण ही अधिक होते हैं। बहुत अधिक खा लेने पर या अत्यधिक थकावट होनेपर प्रायः नींद नहीं आती। किन्तु इस प्रकार के शारीरिक कारणों को अनिद्रा के रोग

कारण नहीं माना जा सकता। अनिद्रा का प्रमुख कारण मानसिक उत्तेजना तथा मानसिक अन्तर्द्वन्द्व होते हैं। न्यूरसथेनिया और हाइपोकेण्ड्रिया के रोगी अनिद्रा के रोग से भीषण रूप से पीड़ित रहते हैं। जब कभी भी हमारे चेतन और अचेतन मन में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की उपस्थिति हो जाती है तो मानसिक असंतुलन की अवस्था उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में प्रायः हमारी चेतना अनेक प्रकार की अव्यक्त इच्छाओं, वासनाओं व मनोवैगों को प्रकाशित होने से बलपूर्वक रोकती रहती है। भय, क्रोध, चिन्ता, कामवासना और निराशा सम्बन्धी अनेक उत्तेजनाएँ और मनोवैग मानसिक असंतुलन की दशा उत्पन्न करते हैं। हमारी नैतिक धारणा के प्रतिकूल होने पर हम इन मनोवैगों को चेतना की सतह पर नहीं आने देना चाहते हैं। किन्तु इससे इन मनोवैगों की शक्ति कम नहीं होती। ये चेतन मन से तो छुप्त हो जाते हैं किन्तु अचेतन मन में शरण ग्रहण करते हैं। निद्रावस्था में जब हमारा चेतन मन और चेतन तथा अचेतन मन के बीच में स्थित प्रतिहारी या 'सेन्सर' प्रसुप्त हो जाते हैं तब ये मनोवैग पुनः प्रकाशित होने की चेष्टा करते हैं। ऐसी अवस्था में कहीं नींद भंग न हो जाय और चेतन मन सजग न हो जाय इसके लिए अचेतन मन स्वप्नों का आश्रय लेता है और दमित वासनाओं का प्रकाशन प्रतीकात्मक रूप से होता है। इस प्रकार स्वप्न निद्रा के प्रमुख अंग हैं।

'हाइपोकेण्ड्रिया' का रोगी अपनी इच्छा से ही नहीं सोना चाहता। जहाँ 'न्यूरसथेनिया' का रोगी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कारण नहीं सो पाता वहाँ हाइपोकेण्ड्रिया का रोगी इच्छापूर्वक नींद से बचने की कोशिश करते रहता है। यहीं नहीं, वह अपने आसपास के लोगों को भी नहीं सोने देना चाहता और बार बार उन्हें अपनी भीषण मानसिक दशा की कथा सुनाता रहता है। इस प्रकार के रोगियों में दबी हुई अपराध की भावना और भीषण निराशा की मनोवृत्ति होती है। अकर्मण्य किन्तु अत्यन्त उच्चाभिलाषी, ऊपर से नैतिकता का ढोंग करने वाले किन्तु आन्तरिकरूप से घोर अनैतिक व्यक्ति ही इस प्रकार के रोग के शिकार होते हैं। मनोविज्ञानशाला में चिकित्सा के लिए आये हुए एक प्रौढ़ रोगी का उदाहरण उल्लेखनीय है। यह रोगी बड़े ही प्रतिष्ठित घराने का था। उसकी नैतिक धारणाएँ और उच्चाभिलाषाएँ अत्यन्त ऊँचे स्तर की थीं किन्तु विलासिता में पले होने के कारण वह आन्तरिक रूप से घोर अनैतिक व अकर्मण्य था। उसके दूसरे भाई और सम्बन्धी ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित थे। उनकी समाज में प्रतिष्ठा थी किन्तु इस व्यक्ति की नैतिक बुद्धि सदैव उसकी भर्त्सना करती रहती थी। अपने आपकी असमर्थता सिद्ध करने के लिए वह सर्वदा किसी न किसी रोग का आवाहन किया करता था। जबतक जमीन्दारी थी वह कुछ न कुछ काम करता रहता था और उसका रोग दबा रहा, किन्तु जमीन्दारी-प्रथा के समाप्त होते ही उसका रोग भीषण रूप से उभड़ पड़ा। जिस समय वह चिकित्सा के लिए मनोविश्लेषक के पास आया उस समय उसकी हालत बड़ी चिन्ताजनक थी। उसका मानसिक सन्तुलन बिलकुल नष्ट हो गया था वह न तो स्वयं सोता था और न तो अपनी पत्नी को ही सोने देता था। उसके परिवार के लोगों में उससे सहानुभूति रखने वाली अकेली वही महिला थी। यदि उसे थोड़ी भी झपकी आती थी तो उसे यह व्यक्ति जगा देता था और अपनी मनोव्यथा का वर्णन उससे बढ़ा-चढ़ा कर करने लगता था।

परीक्षा के समय प्रायः विद्यार्थियों को अनिद्रा का रोग हो जाता है। लेखक की इन्टरमीडियेट कक्षा में पढ़नेवाली एक छात्रा के परीक्षा के समय आँख बन्द करते ही वड़ी की सुइयों तेजी के साथ घूमती हुई दिखलाई पड़ती थीं। वह बड़ी परेशान थी और बिलकुल नहीं सो पाती थी। यह छात्रा एक बार हाईस्कूल की परीक्षा में असफल रह चुकी थी। उसकी अन्य बहनें उससे पढ़ाई में आगे थीं। उसे परीक्षा में उत्तीर्ण होने का विश्वास नहीं था और परीक्षा के लिए एक महीने के लगभग समय रहने पर भी वह

अनुभव करती थी कि परीक्षा के लिए बहुत कम समय रह गया है और वह भी तेजी से बीतता जा रहा है तेजी से घूमती हुई घड़ी की सुइयों उसके इसी भय की प्रतीक थीं। जब उक्त छात्रा को यह विश्वास हो कि वह किसी न किसी प्रकार से अवश्य पास हो जायेगी तब उसका अनिद्राका यह रोग चला गया। रोग के वास्तव में तीन प्रमुख मानसिक कारण थे। पहला तो चलती हुई घड़ी की सुइयों के रूप में उसकी वह दुःख भय की भावना का प्रकाशन होता था और वह भीषणतर मानसिक रोग से बँची हुई थी। दूसरे अपने आपको अनिद्रा के रोग से पीड़ित देखकर वह अचेतन रूप से अपनी अयोग्यता का आशिक रूप से वात आरोपण कर देती थी। तीसरे तेजी से घूमती हुई सुइयों को चेतना के सामने प्रदर्शित करके उसका अचेतन मन उससे अधिक परिश्रम के लिए आगाह करता रहता था, जिससे कि वह आने वाली परीक्षामें असफलता और तन्त्रजित अप्रिय परिस्थितियों से अपने आपको बचा सके। उपरोक्त मानसिक रोग के जबतक ये तीन प्रतीकार्थ स्वीकार नहीं कर लिए गए और उनका निराकरण नहीं कर लिया गया तबतक रोगमी नहीं गया। उपरोक्त छात्रा परीक्षामें ऊँची द्वितीय श्रेणी से उत्तीर्ण हुई।

बी ई० फिशर महाशयने अपनी पुस्तक “एन इन्ट्रोडक्शन टू एबनारमल साइकलाजी” में “एम० एम० विली” और “एस० के० राइस” महाशय की चिकित्सामें आए एक ४ चार वर्षीय बालक का उदाहरण उद्धृत किया है इस उदाहरण से मानसिक रोगों और निद्रा के घनिष्ठ सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। इस बालक का नाम मिलार्ड था वह बड़ा ही नटखट और ऊधमी था। इस कारण प्रायः उसके ऊपर घरेलू डाँट-फटकार भी खूब पड़ा करती थी। एकाएक उसके माता-पिता को बड़ी चिन्ता हुई जब उन्होंने देखा कि छोटा मिलार्ड कभी-कभी अनायास ही असमयमें भीषण थकावट का अनुभव करता था और प्रायः विस्तर के नीचे जाकर अचेत हो जाया करता था। इस बालक के मनोविश्लेषण से पता चला कि एक रोल जब बा साथी बालक के साथ खेल रहा था, तब उसका उससे झगड़ा हो गया। मिलार्ड ने एक दूरी हुई बोलत उठाकर अपने साथी के सिर पर दे मारी किन्तु उसके मस्तक से निकलनेवाले रक्त को देखकर बुरी तरह भयभीत हो गया। उसे यह काम करते हुए किसीने नहीं देखा था। वह तेजी से घर की ओर भागा। अन्तर्धुसते ही वह घरमें चिल्ला चिल्लाकर कहने लगा, मैं बहुत थका हूँ और मुझे बहुत जोर की नींद आ रही है। किन्तु उसकी बात पर किसीने विशेष ध्यान नहीं दिया। भय के कारण उसका बुरा हाल था वह विस्तर के नीचे छिप गया और वहाँ “बहुत थका हूँ, बहुत थका हूँ” धीरे-धीरे कहते हुए सो गया। उस दिन से तब कभी भी वह कोई खराब काम करता था तो वह इसी प्रकार से अचेत हो जाया करता था।

व्यक्तित्व विच्छेद की अवस्था में या बहु व्यक्तित्व के रोग से पीड़ित होने की अवस्था में रोगी अपने सुप्तावस्थामें भी चलते फिरते अनेक प्रकार के विलक्षण कार्य करते रहते हैं। १९ वीं शताब्दि में इटली में रहने वाली एक महिला गणितज्ञ “केलकुलस” के उन कठिन प्रश्नों को अपनी निद्रावस्था में हल कर लेती थी, जिन्हें वह जाग्रतावस्थामें नहीं हल कर पाती थी। बहुतसे लोग अपनी निद्रावस्थामें चलना प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार के रोग से पीड़ित एक महिला अपनी निद्रावस्था में स्नानागार में जाया करती थी। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि किशोरावस्था में अपने सौतेले भाई से उसका वासनात्मक सम्बन्ध था। उस समय वह बार-बार बाथरूम में जाती थी जिससे कि उसका सौतेला भाई अन्दर पहुँच सके। बाद में उसकी नैतिक बुद्धि ने इस घटना को विस्मृत करा दिया, किन्तु यह घटना उसके अचेतनमें घर कर गयी और उसकी सुप्तावस्थामें चेतन मन के प्रतिहारों के सुप्त हो जाने पर नाटकीय रूप से प्रकाशित होती रहती थी।

अभी तक निद्रावस्था की मौलिक स्वप्नों का समुचित अध्ययन नहीं हो सका है। संसार के अनेक

हमारी ग्रामीण सांस्कृतिक सम्पत्ति

ले० — श्री बाबा राघवदास

१९३८ की बात है डाक्टर काटजू साहब की अध्यक्षता में ग्राम सुधार विभाग के जिला संचालकों का सम्मेलन लखनऊ में हुआ था। उसमें मुझे अपने विचार प्रगट करने के लिये कहा गया। मैंने उठते ही सर्वप्रथम इस बात से सहमत होने से अपनी असमर्थता प्रगट की कि हम ग्राम सुधार कर रहे हैं क्योंकि आज हमारे ग्रामों में जो शक्ति संयम सद्भावना की सम्पत्ति पड़ी हुई है, उसका अनुभव करते हुए हममें ग्राम सुधार करने की क्षमता नहीं है, जो हम थोड़े-थोड़े प्रलोभनों से अपने ब्रतों को तोड़ सकते हैं सच को झूठ बनाने में जरा भी नहीं हिचकते और अपनी सुख सुविधाओं के लिये दूसरों को कठिनाई में डालने में जरा भी दिकत का अनुभव नहीं करते। तो हम दूसरों के लिये ही अपने जीवन का अधिकांश समय शक्ति लगाने वाले प्रमीयों के मुकाबले में कैसे ठहर सकते हैं और ये बातें मैंने कोई कल्पना से नहीं कहीं, वरन् जीवन के अनुभव इसके साक्षी हैं।

१९२६ की बात है मैं देवरिया जिला कांग्रेस कमेटी के दफ्तर में सोया हुआ था। जाड़े के दिन थे रात के बारह बजे ज्योंही मैं उठा तो देखा कि श्री रोमन नाम का एक स्वयंसेवक गुट्टी गुट्टी लगाकर सोया हुआ है। मेरे पास दो कमल थे, उसमें से एक कमल मैंने उसे उढ़ाना चाहा। वह उठ बैठा और बोला कि हमको मत उढ़ाइये। उसका गला भर आया और उसने भारी हुई आवाज में कहा 'एक समय था जब मैं जाड़े के दिनों में अपने गरीब गाँव वालों को पाँच कमल हर साल दिया करता था। अब वह दिन है जब आप मुझे कमल दे रहे हैं। उसे मत दीजिये। मुझको बड़ा दुःख होता है।'।

इस पर मैंने उससे कमल ओढ़ने के लिये आग्रह किया। वह रो पड़ा और बोला 'हमारा घर्म बिगाड़ल न जाय।' मैं उसका यह वृत्त देखकर अवाक् रह गया। मैंने यह अनुभव किया कि यह गाँव का भाई आज निर्धन होने पर भी हमारे लिये आदरणीय है। 'परिग्रह से कठिन परिस्थिति में भी अपने को कैसे बचाया जाता है इसका अनुपम पाठ उसने हमको पढ़ाया।'।

कितनी ऊँची है यह गाँव सम्पत्ति। क्या इसी को हम सुधारेंगे। हम तो उससे सुधारने का पाठ पढ़ सकते हैं। उनकी हम सेवा कर सकते हैं।

१९३४ की बात है। बरहज आश्रम पर एक हज़ार से अधिक बाढ़ पीड़ित छी-बच्चे ठहरे हुए थे। उनको कुछ काम दिया जाय इसलिये ईंटों के टुकड़े तोड़ने का काम दिया गया था। प्रातःकाल का समय था लोग काम कर रहे थे, उनको देखने के लिये मैं घूम रहा था। एक जगह से आवाज आई बकरी के बच्चे को ले आओ। मैं नहीं समझ सका कि ईंटों के टुकड़े तोड़ते समय बकरी के बच्चे का क्या काम। थोड़ी देर के बाद मैं उधर गया और देखा कि एक छी अपने एक स्तन से अपनी बच्ची को दूध पिला रही है और दूसरे स्तन से बकरी के बच्चे को। मातृ स्वरूप के इस आदर्श को पाकर मैं कृतार्थ हुआ।

मनोविश्लेषक निद्रा की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के अनुसंधान में संलग्न हैं। जितना अधिक हमारा निद्राकी प्रक्रिया सम्बन्धी ज्ञान बढ़ता जाता है उतना ही हमारा अचेतन मनकी प्रक्रियाओंका ज्ञान बढ़ता जाता है क्योंकि निद्रावस्था तो एकमात्र प्राकृतिक अवस्था है जिसमें हमारी शारीरिक और मानसिक प्रक्रियाएँ पूर्णतः अचेतन मनके द्वारा ही निर्देशित होती रहती हैं।

फिर भी अपनी छोटी वृत्तियों के कारण मैंने उस स्त्री से पूछा, 'बकरी के बच्चे को क्यों दूध पिला रही हो। वह बोली 'येकर माँ मर गई' इस पर मैंने कहा 'तुलोग तो मुरदार खालू, ये के मार के काहे न खरहा इसका उत्तर उसने जवान से नहीं दिया। मेरी ओर तीखी आँखों से देख कर थोड़ी देर रुककर उसने कहा। 'ऐसे न नाही कहे के चाही, बच्चा होवें।' मैंने इस मातृ ध्येय को देखकर मनमें अनुभव किया कि अगर मैं भी स्त्री होता तो क्या ऐसा बकरी के बच्चे को दूध पिलाने का मातृत्व का काम करता उसका उत्तर ही नहीं आया।

मैंने अपने जीवन में पराए मनुष्य के बच्चे को दूध पिलाते हुए किसी को देखा था। पर बकरी के बच्चे को दूध पिलाने वाली माँ का दर्शन मैंने यहीं किया। वह स्त्री अपढ़ हरिजन है उसका पति उस दिन एक दफा में गिरफ्तार हो चुका था। बाढ़ पीड़ित होने से उसको नपी तुली खुराक मिलती थी। पर भी उसका यह उदार हृदय हमें बताता है कि वह कितनी सुसंस्कृत है। क्या ऐसे व्यक्ति को हम गैर ग्राामीय कह कर उसकी अवहेलना करेंगे, और उसके सुधार का बीड़ा उठा कर गाँव में जायेंगे। जो मातृत्वका ऊँचा से ऊँचा दर्शन कराता है उसका सुधार करनेकी क्षमता अपने ही स्वार्थ के लिए, अपने परिवार के भी छोटे छोटे बच्चों से नफरत करने वाले हम यह दावा कैसे कर सकते हैं।

१९३६ की बात है बाढ़ आई हुई थी। बरहज के पास देवारे में हम लोग सहायता कार्य कर रहे थे उस समय एक ६० वर्ष की बुढ़िया हमें ऐसी मिली जिसने चार दिन से कुछ नहीं खाया था हमने उसे खाने के लिये भोजन देने के लिये कहा तो उसने कहा हमने जिनंदगी भर में दूसरे आदमी को दिया कमी नहीं खाया अब इस बुढ़ापे में क्या खायेंगे तब बुढ़िया से हमने पूछा कि बताओ कि तुम किसका दिया हुआ खाओगी तो उसने कहा अपने हित नात के यहाँ से कुछ आवे तो हम खा लेंगे उससे उसके हित नात कहाँ रहते हैं पूछा गया उसने ४ कोस दूरी पर एक गाँव बताया उस गाँव के ओ देवारे के बीच सरयू नदी थी एक पूरा दिन उस पार जाने में लग गया और दूसरा दिन आने में लग क्योंकि नदी का पाठ ४ मील हो गया था इस तरह बुढ़िया को भोजन पहुँचाने में तीन दिन और लग गए जब सात दिन के बाद बुढ़िया के पास भोजन आया तो उसने कुछ सच्ची धोल करके देने को कहा इस समय आश्रम के लोग दूध लेकर भी गये थे बुढ़िया को दूध देना चाहते थे बुढ़िया ने कहा कि हम 'गाँव का अनाज नहीं खाइए' बाबा के दूध नहीं लेव परमहंस बाबा का देवे का चाही लेवे का न चाह जब उस से आग्रह किया गया तब उसने कहा कि 'हमार धर्म ना बिगाड़ल जाय।' इस पर आग्रह करना छोड़ दिया

भारतवर्ष की ग्राम शिक्षा का कार्य यहाँ के संतों ने धूम-धूम करके किया है। पुराने समयसे भारत के संत गाँव के लोगों को ऊँची-ऊँची शिक्षा देते चले आये हैं और अपने लिए केवल मधुकरी माँ कर खाते थे मधुकरी वह भोजन है जो घर में पहले से ही बना हो, आनकल के कुछ साधु देहात में जाकर रहस्यों से हलुवा पूरी बनवा कर खाते हैं जब इस प्रकार के प्रथा का प्रचलन हुआ तब साधुओं का महत्त्व घट गया। सन्त जन रहस्यों के यहाँ रुखी सुखी खाते थे और ऊँचे से ऊँचा उपदेश देते थे इसी कारण परियाम है कि आज भी भारतवर्ष सुसंस्कृत बना हुआ है।

पुरानी परिपाटी के अनुसार सुशिक्षित व्यक्ति वह नहीं है। जो बहुपठित है वरन बहु श्रुत व्यक्ति को सुशिक्षित माना जाता था। वशिष्ठजी ने रामचन्द्रजी की शिक्षा की तारीफ करते हुए यह कहा था कि यह महान पुरुष बहुश्रुत हैं। प्राचीन काल में प्रत्येक नगर में धार्मिक कथा वार्ता और सत्संग होते सत्संग में गाँव के बूढ़ पुरुष निस्वार्थ भाव से गाँव के दूसरे लोगों को बुलाते और सदा धर्म चर्चा करते

मनोविज्ञानशाला में मानसोपचार

निराशा से मुक्ति

दो वर्ष पहले की बात है कि काशी विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध समाज सेवक प्रो० यु० ए० अशरानी महाशयने मुझे प्रो० लालजी राम शुक्ला के विषय में बताया और अपनी मानसिक कठिनाइयों के विषय में उनसे बातचीत करने की राय दी। जीवनके विषय में मेरे विलक्षण विचार थे। मैं एकान्त प्रिय, लियों से घृणा करनेवाला, रुपये पैसे के विषय में विराग भाव, संसार का बहुत बड़ा वैज्ञानिक और दार्शनिक बनने की इच्छा, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अत्यन्त संयम—ये मेरे जीवन के विशेष आदर्श थे। इन विचारों को एक ओर मैं सिद्धान्त रूप से बढ़ता से पकड़े हुआ था और दूसरी ओर व्यावहारिक जीवन में विलकुल अस्थिर रहता था। इसके परिणामस्वरूप मैं सदा निराशा के भाव में रहता।

बचपन से ही मैं प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी रहा हूँ, परन्तु अपने अन्तर्मन में संघर्ष के कारण मैंने चित्तकी एकाग्रता खो दी। इसके कारण यद्यपि मैंने एम० ए० कक्षा के प्रथम वर्ष की परीक्षा के लिए अत्यधिक परिश्रम किया, परन्तु परीक्षा में मेरा स्थान सब विद्यार्थियों के नीचे आया। उस दिन से मेरा जीवन मुझे भार-रूप बन गया। एक दिन मैंने निश्चय किया कि यदि मैं इस वर्ष अच्छी तरह उत्तीर्ण नहीं हुआ तो आत्महत्या से इस जीवन को समाप्त कर दूँगा। मेरा यह निश्चय जैसे जैसे मैं थिसिस के लिए परिश्रम करता जाता था बढ़ता जाता था। मैंने एक महीने तक कई घंटे प्रति दिन काम करके १५०० पन्ने की थिसिस तैयार की। मेरा स्वास्थ्य पहले से यदि अच्छा न होता तो मैं इस परिश्रम से ही मर जाता।

एक दिन मेरा एक मित्र प्रो० शुक्ल जी के घर जा रहा था। मैं भी उसके साथ चल दिया। मेरा उद्देश्य उनसे विशेष शिक्षा लेने का नहीं था। केवल मनबहलाव के लिये मैं उनके घर गया। मैं अपने मित्र के साथ शुक्ल जी से उनके घर पहुँचने पर बातचीत में लग गया और कुछ बहस करने लगा। एकाएक मेरे मनमें बात आई कि प्रो० अशरानी ने मुझे प्रो० शुक्लजी से मिलने को कहा था। तब मैंने शुक्ल जी से अपनी बात कहने का समय माँगा। श्री शुक्ल जी ने मुझसे एक अलग कमरे में चलने को कहा और वहाँ अपने मन की सारी बातें कहने के लिए मुझे प्रोत्साहित किया। मैंने अपने हृदय को उनके सामने पूरी तरह से खोल दिया। मैंने अपने जीवन के आदर्श तथा रहन सहन की सारी बातें बतला दी और अपने मानसिक द्वन्द को निम्नलिखित रूप में रक्खा :—

(१) विवाह के सम्बन्ध में विरोधी विचारों का आना।

ये। जिसमें सात्विक और पौराणिक थे। संसंग मैं व्यावहारिक और पारमार्थिक जीवन की वार्ता पर विचार विनिमय होता था और सत् असत् का निरूपण होता था, जब मैं छोटा था तो मेरी माँ बच्चों के सामने रामायण महाभारत की कथाएँ कहा करती थीं वे बच्चों को सुनाती वा मिटाई बाँटा करती थीं जो बालक सबसे पहिले आता था और सबसे पीछे जाता था उसे मिथ्री का सबसे बड़ी डली मिलती थी। मिथ्री की बड़ी डली पाने के लिए बहुत से छोटे-छोटे लड़के दौड़कर पहले आने की कोशिश करते थे और कथा के अंत तक रहते थे। बचपन के संस्कार बड़े बढ़ होते हैं। वे बचपन की सुनी हुई कथाएँ मेरे जीवन को सब समय प्रभावित करती रहीं। आज भी बहुत सी बचपन की सुनी हुई महाभारत की कथाएँ मुझे स्मरण हैं और जीवन में महत्व के निर्णय करते समय काम में आती हैं।

- (२) मानव समाज की सेवा की इच्छा, परन्तु वर्तमान समाज के प्रति घृणा ।
 (३) जीवन से निराशा और आत्म-हत्या करने की प्रेरणा ।
 (४) चित्त की अस्थिरता, चित्त की एकाग्रता की कमी और स्मृति हास ।
 (५) आत की कजबोरी मेरी चिन्ता की सबसे बड़ी कारण थी । इसके कारण जीवन में मुझे कोई रस नहीं रह गया था ।

प्रो० शुक्ल जीने मेरी बातोंको बड़े ही सहायुभूति और शान्त भाव से सुना, उन्होंने पहली सलाह मुझे अपने जीवन को उठाने के लिये जो दी वह निम्न लिखित है ।

- (१) प्राणी मात्रके प्रति मनमें प्रेमकी भावना को दृढ़ करना ।
 (२) अपने जीवनको सर्वव्यापी तत्वके हाथमें छोड़ देना । भावी कार्य क्रम की केवल रूपरेखा अपने मनमें तैयार करना । पूर्ण कार्य क्रम कभी न सोचना, समयके अनुसार परिवर्तन करते रहना ।
 (३) व्यक्तिगत इच्छाओं से मुक्त होनेकी चेष्टा करना । इसके लिये मध्यम मार्गका अनुसरण करना और एकान्तताका परित्याग करना ।

(४) अपने मनकी चिन्ताओं से मुक्त करनेका प्रयत्न करना । मैं नहीं बता सकता कि मैंने कहाँ तक उपर्युक्त बातोंको अपने जीवनमें चरितार्थ कर सका, परन्तु जो कुछ कर सका वह निम्नांकित है ।

(१) मैं अपने कक्षाके साथियों और कक्षाके छात्राओं से मिलने लगा, जिनसे मैं बहुत दूर रहता था ।

(२) मैं अपनी भाभी, भतीजी तथा भतीजेके प्रति स्नेहके भाव मनमें लाने लगा । इनके प्रति पहले मेरे मनमें बड़े क्रूर भाव थे ।

(३) मैं प्रतिदिन परमात्मासे प्रार्थना करता हूँ कि वह मेरे जीवनको उपयोगी तथा चिन्ता रहित बनावें ।

(४) मैंने अपने आपको अध्ययनमें इसदृष्टिसे लगाया कि मैं किसी काममें लगा रहूँ । परीक्षामें पास होनेके विचार त्याग दिये ।

इस प्रकारके अभ्यासका परिणाम मेरे मन पर बहुत अच्छा पड़ा । मुझे वीस ही दिनमें इसकी उपयोगिता दिखाई देने लगी और मैं विश्वास करता हूँ कि शुक्लजी से मेरा मिलना नितांत आवश्यक था ।

प्रभुदयाल शर्मा
 [विद्यार्थीने बड़ी सचाईके साथ मनोविज्ञान शाला की साधना पद्धतिको अपनाया और अपने जीवन के प्रति दृष्टि कोण परिवर्तित करनेकी चेष्टाकी । सचाईके साथ साधनाका अभ्यास करनेसे इस विद्यार्थीके जीवनमें कल्पनातीत परिवर्तन हुआ । निश्चिन्त होकर मानसिक शैथिलीकरण के साथ, कार्य करनेसे वह विद्यार्थी अपनी कक्षामें सर्वप्रथम परीक्षामें आया और प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुआ ।]

स्नेह के चमत्कार

(ले०—बाबा रावबदास)

रविशंकर महाराज गुजरात के सन्त कार्यकर्ता हैं। उनका कार्यक्षेत्र चोर, डाकू, और लुटेरों में रहा है। उन्होंने इन 'अपराधियों' का जो विश्वास प्राप्त किया है और वह भी अथक परिश्रम और प्रेमसे यह एक उनका वैशिष्ट्य है। मेरी जानकारी में 'अपराधियों' में काम करनेवाले ऐसे व्यक्ति पहले पुरुष दिखाई दिये, जिन्होंने अपने कार्य में इतनी सफलता प्राप्त की है। अभी मैं गुजरात गया था उनके जीवन की कई घटनायें मालूम हुईं। मैं उनसे बड़ा प्रभावित हुआ। उनमें से दो एक घटना यहाँ लिखना अनुचित न होगा।

एक नवजवान चोरी के अपराध में गिरफ्तार होकर जेल में बन्द था। जब यह बात श्रीरविशंकरजी को मालूम हुई तो वे उससे मिलने के लिये जेल में गये। उससे सारी बातें समझ लीं और अनुभव किया कि इसका जो दूसरा साथी है उसका गिरफ्तार होना जरूरी है। लेकिन गिरफ्तारी का काम तभी हो सकता था जब ये जेल से बाहर जाकर उसे ढूँढ़ निकाले और कहे। वह कोई साधारण काम नहीं था। श्रीमहाराज ने कुछ सोचा और जेल के सुपरिटेण्डेंट के पास गये और उससे कहा कि इस व्यक्ति को रात भर के लिये मेरे साथ कर दो तो मैं एक जरूरी काम करके आऊँगा। सुपरिटेण्डेंटने बात तो सुनी, पर उसको जेल से बाहर करने में उनके परिवार का सारा चित्र सामने आ गया। कुछ देर तक बात चीत होती रही। सुपरिटेण्डेंटके मनमें मानवता जगी, ताला खोला और कैदी बाहर हो गया।

महाराज उस कैदी को लेकर चले। जहाँ उसका साथी था वहाँ पहुँचे। उससे बातचीत हुई वह महाराज के साथ हो लिया। वहाँ से लौटे। अब तक बीस बार्ड्स मील यात्रा हो चुकी थी। सूर्योदय के पहले पहुँचना था। इधर सुपरिटेण्डेंट आँख में तेल डालकर कैदी की प्रतीक्षा कर रहा था और उधर महाराज भी अपने वचन पालन के लिये उत्सुक थे। दस बारह मील पर जो भाई जेल से गया था उसका गाँव था। गाँव के पास आने पर इस भाई ने महाराज से कहा कि मुझे घर जाने दीजिये मैं घरवालों से मिल कर आता हूँ आप चौराहे पर खड़े रहिये। महाराज धर्मसंकट में पड़े, ये जा रहा है और मुझे कहा है कि यहाँ रहें। अपने मन को दृढ़ करके उन्होंने आने को कहा। उसके लौट आने में करीब एक घण्टा लगा पर वह महाराज के लिये 'फट्ट' परीक्षा का समय था।

इधर सुपरिटेण्डेंट की फार आ रही थी। उसके लौटने पर तीनों उत्साह से जेल की तरफ जाने के लिये चल पड़े और सूर्योदय के पहले जेल पर पहुँच गये। सुपरिटेण्डेंट के मन का बोझ हलका हुआ। उसको बड़ा आश्चर्य हुआ एक की जगह दो व्यक्ति आ गये। यह महाराज को भी अनुभव हो गया कि विश्वास से विश्वास बढ़ जाता है और कठिन अपराधी भी अपने विश्वास का परिचय देते हैं। यह घटना गुजराती की 'मायासा मोयौदीप' में छपा है।

भगत नाम का एक व्यक्ति था। गाँववालों में से किसी को आशा नहीं थी कि वह चोरी करेगा। पर घटना हुई। रविशंकर महाराज को मालूम हुआ। वे उसके पास पहुँचे। बातचीत के सिलसिले में उसने अपनी कमजोरी ही स्वीकार कर ली और उसने जहाँ चोरी का माला दो डिब्बे रखे थे वहाँ से रातोंरात उठा लाया। संयोग से उसमें से एक डब्बा तेल का था। महाराज ने पूछा कि अब दोनों डिब्बे खी के थे तो एक तेल का कैसे हो गया। तो उस पर उसने कहा कि दोनों खी के ही थे, पर जब फल

मानसिक चिकित्सा की उपयोगिता

श्री प्रणवीर सिंह चौधरी

आधुनिक युग में सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ मानसिक रोगों की भी वृद्धि होती जा रही है। इसके साथ ही साथ मानसिक रोगों का मार्जन करने के हेतु अनेक प्रकार की चिकित्सा-विधियों का आविष्कार होता जा रहा है। मानसिक रोगों को अच्छा करने की अनेक चिकित्सा विधियाँ हैं। डाक्टर और वैद्यों की औषधि-चिकित्सा विधि, बिजली द्वारा चिकित्सा, पण्डे-पुजारियों का आदना-पूँकना और वैद्यों की औषधि-चिकित्सा विधि, बिजली द्वारा चिकित्सा, पण्डे-पुजारियों का आदना-पूँकना ईमीलकूप की निर्देश विधि, फ्रायड की मनोविश्लेषण-विधि, युग की विश्लेषण पद्धति आदि और अनेक प्रकार की चिकित्सा-विधियाँ मानसिक रोगों को अच्छा करने के लिये प्रयुक्त की जाती हैं; पर सबसे होते हुए भी मानसिक रोगों के विषय में वैज्ञानिक अध्ययन और विचार करनेवाले लोगों में चिकित्सा-विधियों के प्रति निराशा और सन्देह का वातावरण फैल रहा है। लंदन के मानसिक-चिकित्सकों के एक सबसे बड़े सुप्रसिद्ध डाक्टर ने बहुत अधिक समय तक मानसिक-चिकित्सा-विधियों का वैज्ञानिक रूप से प्रयोग करके यह मत प्रकाशित किया है कि, सभी प्रकार की मानसिक-चिकित्सा-विधियों से प्राप्त होने वाली मानसिक रोगी अच्छे होते हैं जितने प्राकृतिक-रूप से स्वस्थ हो जाते हैं। मानसिक रोगों की स्वस्थ होने की औसत लगभग तीस प्रतिशत बताई गई है।

मानसिक-चिकित्सा विधियों के प्रति उपरोक्त कथन से पर्याप्त निराशा ली होती है। इस कथन के अनुसार मानसिक-रोगों को अच्छा करने के लिये किसी भी वैज्ञानिक अथवा अवैज्ञानिक चिकित्सा-विधियों का प्रयोग निरर्थक ही सिद्ध होता है। अतएव अब तक मन के कार्य-कलापों की गति-विधियों अध्ययन करने और मन का स्वरूप समझने में बहुत से व्यक्तियों ने जो अथक परिश्रम किया वह सब भी व्यर्थ सा ही है। क्योंकि मनोविज्ञान के बिना भी नैसर्गिक रूप से कार्य चलता ही रहता है, और नैसर्गिक रूप से जो कुछ होता रहता है मनोविज्ञान के द्वारा उसमें कुछ भी परिवर्तन संभव नहीं है।

वास्तव में ऐसी बात नहीं है, मनोविज्ञान के अध्ययन और मानसिक चिकित्सा-विधियों का मूल्य है। किसी विषय के ज्ञान के द्वारा हमारा उस पर अधिकार हो जाता है। इसलिये मनोविज्ञान का अध्ययन मन का स्वरूप और उसकी गति-विधियों को समझने के लिये आवश्यक है। साथ ही मानसिक-चिकित्सा-विधियों का भी मानसिक रोगों को अच्छा करने में महत्व है।

मानसिक-चिकित्सा-विधियों को मूल्य समझने के लिये हमें मानसिक-चिकित्सा के मूल-सिद्धांत को समझना आवश्यक है। मानसिक रोगी और चिकित्सक में सद्भाव उत्पन्न होना ही मानसिक चिकित्सा का आधार है। जैसे तो शारीरिक रोगों की चिकित्सा में भी इसकी आवश्यकता है ही पर मानसिक रोगी में चिकित्सक के प्रति विश्वास, प्रेम और भ्रष्टा का उत्पन्न होना अति आवश्यक है। जहाँ मानसिक रोगी में चिकित्सक के प्रति अभ्रष्टा और अविश्वास होता है वहाँ स्वास्थ्य-लाभ असम्भव है। पर

यानेदार आये तो उन्होंने (४०) रिसवत मॉर्ग। इसलिये मुझे एक डिब्बा बेचना पड़ा ३०) में और १०० कर्ज लेकर ४०) पूरा किया। फिर महाराज ने कहा कि इस तेल के डिब्बे को भी धी में परिवर्तित कैसे कर सकोगे ? क्योंकि तुमने धी जुराया है तो वह कर्ज लेकर रुपया देने के लिये राजी हुआ।

उसकी यह वार्षिक भावना देख मन में आता है कि यह चोर चोर है अथवा यानेदार। दूसरी बात मनुष्य के प्रेम का चोर के चरित्र पर प्रभाव पड़ना यह उसके व्यक्तित्व की बात है।

रोगी को चिकित्सक पर भ्रष्टा और विश्वास हो जाता है तब उसका स्वस्थ होना सम्भव हो जाता है। मानसिक-रोगी और चिकित्सक का सम्बन्ध केवल बुद्धिपरक नहीं है वरन् चिकित्सक को मानसिक रोगी के अन्तर्मन अथवा हृदय से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। सभी मानसिक रोगों की वृद्ध अचेतन मन में रहती है और इसलिये हृदय पर प्रभाव डालकर ही उन्हें अच्छा किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में कोरे उपदेश सहायक नहीं होते वरन् मानसिक-चिकित्सक को रोगी के हृदय को प्रभावित करने के हेतु विशेष प्रकार का आचरण आवश्यक होता है। अतएव किसी भी चिकित्सा-विधि का मुख्य इसी में है कि वह कहीं तक मानसिक-चिकित्सक को रोगी के अन्तर्मन से संबंध स्थापित करने में सहायता करती है और रोगी में चिकित्सक के प्रति विश्वास और प्रेम का निर्माण करती है। अतएव यह निस्सन्देह रूपसे कहा जा सकता है कि किसी भी चिकित्सा विधि का मुख्य उसकी वैज्ञानिकता में नहीं वरन् मानसिक रोगी और चिकित्सक में सद्भाव उत्पन्न करने में ही है।

रोगी की भ्रष्टा और प्रेम का पात्र होना मानसिक चिकित्सक के लिए आवश्यक है। इसके लिये मानसिक चिकित्सक को साधना करनी पड़ती है। उसे रोगी के प्रति सच्ची सहानुभूति और प्रेम प्रकट करना पड़ता है। प्रेम के द्वारा ही किसी का हृदय वश में किया जा सकता है अन्यथा नहीं। मानसिक रोगी में आत्मविश्वास की कमी रहती है। वह जीवन से निराश रहता और प्रायः सभी लोगों पर सन्देह करता है। विशेष कर अपने निकट-सम्बन्धियों से वह विशेष रूप से सशक्त रहा करता है। रोगी का दृष्टिकोण जीवन के प्रति निराशावाद का रहता है। अतएव उसको निराशावाद से छुड़ाकर जीवन के प्रति उसमें प्रेम और आशा का संचार करना चिकित्सक का कार्य होता है। चिकित्सक की सफलता इसी में है कि वह कहीं तक मानसिक रोगी में जीवन के प्रति आशा और प्रेम उत्पन्न कर सका है। रोगी के मन में ऐसा कोई आधार नहीं होता जिस पर उसका मन स्थिर हो सके इसीलिए वह अशान्त रहता है। चिकित्सक के प्रति विश्वास होना एक ऐसे आधार की प्राप्ति है जिसपर उसका मन स्थिर रह सकता है और उसका विघटन हटकर संगठित हो सकता है। रोगी को भ्रष्टा का पात्र बनाने के लिए चिकित्सक को रोगी के लिए त्याग और सच्चा प्रेम करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए चिकित्सक को कोरी वैज्ञानिक-विधि की ही आवश्यकता नहीं है वरन् जीवन के प्रति एक ठोस दार्शनिक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। जब तक चिकित्सक का जीवन के प्रति एक ठोस दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं होता तब तक स्वयं उसका व्यक्तित्व ही संगठित नहीं होता और जिस व्यक्ति का स्वयं ही व्यक्तित्व विघटित है उससे दूसरे व्यक्ति के व्यक्तित्व के संगठित करने की आशा व्यर्थ है। ऐसे चिकित्सक रोगियों को स्थाई स्वास्थ्य लाभ नहीं पहुँचा सकते। अतएव स्वयं चिकित्सक को एक गंभीर और ठोस दार्शनिक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में चिकित्सक को रोगी के प्रति सच्ची सहानुभूति दिखाना असम्भव होता है। अपनी चिकित्सा-विधि के प्रति रोगी के मन में विश्वास उत्पन्न करना आवश्यक होता है। चिकित्सक को स्वयं ही विश्वास नहीं होता तो भी उसको रोगी में विश्वास जमाने के लिए उसे बार बार उसकी उपयोगिता बतानी पड़ती है। लेकिन इस प्रकार बोला देने से उसकी श्रद्धाशक्ति भी कमजोर हो जाती है। उस अवस्था में जब चिकित्सक को ही अनेक प्रकार के सन्देह रहते हैं, उसके रोगी को दिए सब प्रकार के सन्निर्देश व्यर्थ हो जाते हैं। इसलिए रोगियों की चिकित्सा करने के लिए चिकित्सक को स्वयं अपना व्यक्तित्व संगठित करने की आवश्यकता होती है और व्यक्तित्व-संगठन के लिए व रोगियों के प्रति उचित सच्चा प्रेम और सहानुभूति रखने के लिए एक ठोस दार्शनिक-सिद्धांत की आवश्यकता होती है।

चिकित्सा-विधियों की व्यर्थता सिद्ध करने वाला निराशावादी दृष्टिकोण जीवन-दर्शन-विहीन वैज्ञानिकता का ही परिणाम है। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण में रोगियों के प्रति सच्चे प्रेम का अभाव रहता है और मानव मन का अध्ययन एक निर्जीव पदार्थ की तरह ही किया जाता है। जिस प्रकार भौतिक जगत के नियम भौतिक जगत में कार्य करते हैं इसी प्रकार वे मानसिक जगत में भी अनुमान करते हैं पर यह एक प्रकार की मूल है। हमारा मन जड़ पदार्थों की तरह निर्जीव नहीं है वह चेतन और सजीव है। हमारे भाव जगत के नियम प्रेम के नियम हैं। प्रेम-विहीन जड़ स्थिति का भाव-जगत में कोई महत्व नहीं, अतएव हम देख चुके हैं कि किसी भी चिकित्सा विधि का मूल्य रोगी और चिकित्सक के एक दूसरे के हृदयों को अति समीप लाने में ही अर्थात् रोगी के अचेतन मन से सम्बन्ध स्थापित करने में ही किसी चिकित्सा-विधि की उपयोगिता है। चिकित्सक को रोगी के प्रति सच्ची सहानुभूति प्रदर्शित करना आवश्यक होता है और इसके लिए चिकित्सक को एक ठोस दार्शनिक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। आधुनिक मनोविज्ञान के आधुनिक गंभीर विचारकों का भी यही मत है।

निर्देश-चिकित्सा विधि का वैज्ञानिक प्रयोग इमील कूप महाशय ने किया है। इसी चिकित्सा-विधि का प्रयोग हमारे देश के पंडे और ओझा लोग बिना उसको जाने बूझे करते हैं। इमील कूप महाशय रोगियों को सम्निर्देश दिया करते थे और उनके साथ सहानुभूतिपूर्वक सौहार्द भाव से व्यवहार भी करते थे। इसके परिणाम-स्वरूप बहुत से मानसिक रोगी अच्छे हो जाते थे, पर जब कोई रोगी अपनी दुःखगाथा कहने लगता तो वे उसे यह कह कर रोक देते थे कि इस प्रकार कब तक रोते रहोगे इस प्रकार वे रोगियों के हृदय से अधिक संबंध स्थापित नहीं करना चाहते थे। इसी कारण रोगी कुछ काल के लिए तो अच्छे हो जाते थे पर बाद में फिर से वह रोग उन्हें आ घेरता था। अतएव इमील कूप की निर्देश-चिकित्सा विधि में यह दोष देखकर फ्रायड महाशय ने मनोविश्लेषण-विधि का आविष्कार किया। इस विधि में रोगी के अन्तर्मन का अध्ययन किया जाता है और उन मानसिक ग्रन्थियों की खोज की जाती है जो विक्षिप्तता का कारण होती हैं। ग्रन्थियों का निराकरण करने से और रोगी के इस प्रकार के व्यवहार करने की शिक्षा देने से, जिससे कि किसी भी प्रकारकी मानसिक ग्रन्थियों का निर्माण न हो रोगी को स्वास्थ्य लाभ कराने का प्रयत्न किया जाता है। इन मानसिक ग्रन्थियों की खोज के लिए रोगी को संपूर्ण जीवन वृत्ति का पता लगाया जाता है, उसमें उसके गुप्त से गुप्त कार्य-कलापों लिनको समाविष्ट निन्दित समझा जाता है, उसके आचार-व्यवहार का निरीक्षण किया जाता है और स्वार्थों का भी अध्ययन किया जाता है। इन सब कार्य के लिये एक ही रोगी को एकान्त में बहुत अधिक समय देना पड़ता है और जब तक रोगी को उसकी चिकित्सा विधि पर विश्वास न हो जावे तब तक वह अपनी गुप्त बातें उस सामने खोल भी नहीं सकता। इसके लिए रोगी के प्रति चिकित्सक को पर्याप्त प्रेम और सहानुभूति दिखाने की आवश्यकता होती है। वैसे फ्रायड महाशय जड़वादी थे पर वे अपने रोगियों के प्रति बड़े प्रेम और सहानुभूति-पूर्वक व्यवहार करते थे और इसलिए रोगी दीर्घकालीन चिकित्सा से उबते भी नहीं थे। जब उनके कुछ अनुयायियों ने उनकी मनोविश्लेषणात्मक विधि को ही सब कुछ समझ लिया तो उन असफलता होने लगी और उसमें अनेक दोष भी दिखाई देने लगे। इसके बाद आधुनिक काल में उ. महाशय ने उनकी चिकित्सा-विधि में पर्याप्त सुधार किया और जीवन-दर्शन को आवश्यकता का प्रतिपादन ऊपर से समाज के द्वारा लादा हुआ ही समझते थे और व्यक्ति स्वत्व और अनन्त व्यापक स्वत्व के एक को ही मानसिक साम्य प्राप्त करने का साधन माना है। उसने यह भी लिखा है कि चालीस वर्ष की

स्वप्न का अर्थ

स्वप्न मानव को सब समय से होते आया है। प्राचीन काल के सभ्य लोग स्वप्न को बड़े महत्व की दृष्टि से देखते थे। स्वप्न अनुभव को वे उतना ही महत्व देते थे जितना जाग्रत अवस्था के अनुभव को प्राचीन काल में स्वप्न को इसलिए अधिक महत्व दिया जाता था कि लोग समझते थे कि स्वप्न भविष्य में होनेवाली घटना को बता देते हैं। स्वप्न को आज के मनोवैज्ञानिक भी बड़ा महत्व देते हैं। परन्तु वे यह महत्व इसलिए नहीं देते कि स्वप्न भावी घटनाओं के बारे में हमें आगाह करता है वरन् स्वप्न को महत्व इसलिए दिया जाता है कि वे मनुष्य की वह मानसिक स्थिति को जिसे दूसरे किसी उपाय से सरलता से नहीं जाना जा सकता, बताते हैं।

आधुनिक काल के सभी मनोवैज्ञानिक स्वप्न को अचेतन मन में प्रवेश करने की कुंजी मानते हैं। स्वप्न मन की अचेतन क्रियाएँ अथवा गुप्त क्रियाओं के कारण होते हैं। जब हम चेतन जगत से हट जाते हैं तभी हमें स्वप्न होते हैं। दिवा स्वप्न में भी हम देखते हैं कि मनुष्य अपनी बाहरी परिस्थिति के विषय में अज्ञ हो जाता है। स्वप्न अचेतन मन में रहने वाले अनेक प्रकार की भावनाओं को मूर्तिमान करते हैं इस वास्ते स्वप्न के द्वारा हम अपने ही छिपे मन के बारे में बहुत कुछ जान लेते हैं। अपने गुप्त मन के विषय में उपयोगी ज्ञान प्राप्त करना स्वप्न के समझने का वास्तविक उद्देश्य होता है। डा० फ्रायड ने स्वप्न का अर्थ लगाने की विधि का आविष्कार इसी उद्देश्य से किया है। मानसिक चिकित्सा के लिए रोगी का स्वप्न जानना और उनका ठीक-ठीक अर्थ लगा सकना नितांत आवश्यक है।

स्वप्न का अर्थ लगाना एक बड़ा ही जटिल कार्य है। इसके लिए मनुष्य को पर्याप्त साधारण और असाधारण मनोविज्ञान का ज्ञान और मनुष्य के व्यवहार का अनेक प्रकार का अनुभव होना नितांत आवश्यक है। स्वप्न का अर्थ लगाने में अनेक प्रकार की बाधाएँ होती हैं। पहली बाधा तो यह है कि बहुत से लोग अपने स्वप्न को स्मरण ही नहीं रख पाते, फिर जो कुछ स्वप्न द्रष्टा को स्मरण रहता है वह उसी प्रकार का नहीं होता जिस प्रकार का स्वप्न देखे रहता है। सामान्यतः रोगी स्वप्न के कुछ मार्मिक अंशों को भूल जाता है और इसके बदले में वह अपनी ही कल्पना से कुछ दूसरी बातों को रख देता है। इस प्रकार का स्वप्न का व्यतिक्रम होना इसलिये आवश्यक है कि स्वप्न के द्वारा मनुष्य के आन्तरिक जीवन का वह भाग व्यक्त हो जाता है जिसे वह दूसरों के सामने नहीं लाना चाहता। हम कभी-कभी स्वप्नों में ऐसी बात देखते हैं जो हमारी गुप्त इच्छा से कोशों दूर है। उदाहरणार्थ हम अपने स्वप्न में अपने ही

अवस्था के बाद यदि किसी मनुष्य के दार्शनिक-विचार स्थिर नहीं हो जाते तो उसे विक्षिप्तता हो जाना अनिवार्य सा ही है। विलियम ब्राउन महाशय ने अपनी पुस्तक 'साइकालाजी एण्ड साइकाथ्रेपी' में स्पष्ट रूपसे बताया है कि मानसिक स्वास्थ्य के लिए एक ठोस जीवन दर्शन की आवश्यकता है। यह जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही हो सकता है। जब तक हम यह विश्वास नहीं रखते कि एक ही तत्व सब चीजों में व्याप्त है तब तक हमारा किसी के प्रति सच्चा प्रेम होना सम्भव नहीं है। प्रेम आत्म-भावना का ही दूसरा नाम है। जिसमें हम अपनत्व नहीं देखते उससे प्रेम होना सम्भव नहीं है। अतएव आध्यात्मिक दृष्टिकोण मानसिक चिकित्सक को अति आवश्यक है। इसके बिना वह रोगी के प्रति सच्चा प्रेम और सहानुभूति रख ही नहीं सकता।

समीप के संबंधी की मृत्यु का स्वप्न देखते हैं अथवा किसी व्यभिचार में पड़े हुये अपने आपको पाते जब हम इस प्रकार के स्वप्न का विश्लेषण करते हैं तो हमें यह पता चलता है कि ये स्वप्न हमारी वास्तविकता में आन्तरिक इच्छा को व्यक्त करते हैं। इस इच्छा का हमें भी ज्ञान नहीं रहता। कभी-कभी हम देखते हैं कि अपरिचित व्यक्ति बड़ा गन्दा कार्य कर रहा है। स्वप्न के अर्थ लगाने से पता चलता है कि यह अपरिचित व्यक्ति स्वयं स्वप्न द्रष्टा ही है। कभी-कभी नैतिकता के प्रतिकूल कार्य करने वाले व्यक्ति का सम्पूर्ण शरीर दिखाई देता है परन्तु उसका चेहरा दिखाई नहीं देता। स्वप्न के अर्थ लगाने पर पता चलता है कि जिस व्यक्ति का चेहरा नहीं दिखाई देता वह स्वप्न द्रष्टा ही है। एक महिला हर समय स्वप्न देखती थी कि कोई व्यक्ति उसके बच्चे को ले जा रहा है, वह इस प्रकार से सब समय घबड़ाकर उठा करती थी। इस स्वप्न के विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि स्वयं वह महिला अपने बच्चे की मृत्यु अपने आन्तरिक मन से चाहती थी। उसका चेतन मन भीतरी मन की इस इच्छा को सह नहीं सकता था अतएव न केवल वह जाग्रतावस्था में बच्चे की मृत्यु की कल्पना करती थी वरन् स्वप्न में भी वह इस कल्पना का सामना नहीं कर सकती थी। इसीलिये यह आन्तरिक मन की इच्छा एक नये विकृत रूप में प्रकट होती थी।

स्वप्न के अर्थ लगाने में दूसरी कठिनाई यह है कि मनुष्य के अन्तर्मन की भावना स्वप्न की वास्तविक रूप में नहीं वरन् प्रतीक रूप में प्रकट होती है। स्वप्न प्रतीकों का सहारा लेकर अपने आन्तरिक मन की भावना इसलिये व्यक्त करता है कि कोई भी मनुष्य अपने अचेतन मन की अनैतिक अथवा अप्रिय इच्छाओं को जानना नहीं चाहता। यदि हम अपनी इन इच्छाओं को जान लें तो हमें बड़ी ही लज्जा अथवा आत्म-ग्लानि का अनुभव हो। अचेतन मन की इच्छाओं को जानने से मनुष्य के स्वाभिमान में ठेस भी लगती है अथवा अपने भव्य कल्पना का भावी महत्त्व इस ज्ञान के कारण टूट जाता है। स्वप्न हम जैसे आन्तरिक मन से हैं वैसे ही प्रकट भी होते हैं। जो मनुष्य अपने सामान्य जीवन में बहुत ही पवित्र व नैतिक रहते हैं उनके जीवन में अनैतिक व गन्दी भावनाओं का दमन होता रहता है, ये भावनायें स्वप्न में प्रकट होती हैं तो उन्हें सीधे रूप में स्वीकार करना असम्भव होता है। मनुष्य की स्वाभिमान की मनुष्यवृत्ति अथवा नैतिक मनुष्यवृत्ति उसके सुप्तावस्था में भी कुछ न कुछ कार्य करती रहती है इसी कारण इस गुप्त वासना को छिपकर प्रतीक रूप से प्रकट होना पड़ता है। जब कभी हम अनुचित धर्म को स्वप्न में उसी प्रकार का देख लेते हैं जैसी की हमारी आन्तरिक मन की होती है तब अधिकतर हम उसे मूल ही चाते हैं।

फिर एक और कठिनाई स्वप्न के अर्थ लगाने में है, किसी भी स्वप्न का अर्थ मनुष्य के जीवन के सम्पूर्ण बातों जाने बिना नहीं लगाया जा सकता। कितने ही लोग मनोविज्ञानिक को अपना स्वप्न लिखकर भेज देते हैं और उससे उसका अर्थ लगाने के लिये माँग करते हैं, स्वप्न का इस प्रकार अर्थ लगाना, मनोविज्ञानिक है, स्वप्न का ठीक-ठीक अर्थ लगाने के लिये स्वप्न द्रष्टा के जीवन की अनेक प्रकार की घटनाएँ और उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व, उसके उद्देश्य, इच्छाओं, आकांक्षाओं, और भावनाओंको जाननेकी आवश्यकता होती है। यहाँ पर एक स्वप्न का उल्लेख करना आवश्यक है जिससे व्यक्त होता है कि मनुष्य के स्वप्न का अर्थ लगाना कितना आवश्यक है—(एक व्यक्ति स्वप्न में अपनी माँ के लिये रेलवे स्टेशन पर टिकट खरीदता है, माँ के पास एक छोटी हैण्डबैग है जिसे वह प्लेटफार्म पर छोड़ जाती है यह टिकट खरीदने वाला व्यक्ति बार-बार माँ को इस हैण्डबैग को देने की चेष्टा करता है, लेकिन वह देने में अपने को असमर्थ पाता है।

इस स्वप्न का अर्थ लगाने के लिये स्वप्न द्रष्टा के जीवन की बातों को जानना आवश्यक है।

साधारण मनोविज्ञान के ज्ञान से कह सकते हैं कि किसी के लिये रेल की टिकट के खरीदने का अर्थ है कि हम उस व्यक्ति की मृत्यु के इच्छुक हैं। यह न केवल डाक्टर फ्रायड की स्वप्न के अर्थ लगाने की विधि से स्पष्ट होता है वरन् सामान्य रूप से भी यह अर्थ स्पष्ट है कि हम आन्तरिक मन से चाहते हैं कि वह व्यक्ति चला जाय, सन्दूक अथवा हैण्डवेग रबी का प्रतीक है, परन्तु इतने ज्ञान से भी इस स्वप्न का अर्थ लगाना सम्भव न हुआ। इसका अर्थ लगाने के लिये मनोवैज्ञानिक को स्वप्न द्रष्टा के जीवन की अनेक बातें जानना आवश्यक होगा। साधारणतः यह स्वप्न द्रष्टा अपनी माँ को प्यार करता था और उसकी मृत्यु की इच्छा करने का कोई भी कारण नहीं दिखलाई देता था वह जिस घर में रहता था उस घर में यही दो व्यक्ति थे। परन्तु इसकी माँ की एक नौकरानी भी थी। उसके आन्तरिक मन की इच्छा की खोज से पता चला की वह इस नौकरनी की ओर आकर्षित हो गया था। उसकी अब भीतरी इच्छा यह थी कि इसकी माँ कहीं चली जाय और अपनी नौकरनी को घर ही पर छोड़ जाय जिससे की वह अपनी प्रेम की इच्छा पूरी कर सके। इसी गुप्त इच्छा के कारण उसने अपनी माँ के लिये टिकट खरीदने का स्वप्न देखा परन्तु यह बात स्पष्ट थी कि यदि माँ कहीं बाहर चली गई या मर गई तो उसकी नौकरनी भी घर से चली जायगी। परन्तु स्वप्न द्रष्टा इसे नहीं चाहता था इसीलिये वह बार-बार देखता था कि उसके बार-बार प्रयत्न करने पर भी अटैची के श (हैण्डवेग) पीछे की छूट जाती है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वप्न मनुष्य की अव्यक्त इच्छा की पूर्ति के लिये होता है और वह इस इच्छा को व्यक्त करता है स्वप्न कभी-कभी इसलिये अप्रिय होता है कि यह अव्यक्त इच्छा हमारे चेतन मन की आकांक्षाओं के विरुद्ध होती है। स्वप्न के प्रतीकों का अर्थ जानने के लिये मनुष्य के प्राचीन काल के विश्वास, उसकी असभ्य भाषा, और साहित्य का ज्ञान होना आवश्यक होता है। डा० फ्रायड ने बताया है कि पानी में घुसना अथवा उसके बाहर आना, जन्म का प्रतीक है, पानी में तैरना, पहाड़ी पर चढ़ना, रति क्रिया के प्रतीक हैं। कालापन मृत्यु का प्रतीक है। किसी भी लम्बी वस्तु को देखना पुरुष की जननेन्द्रिय का प्रतीक और कोई भी गहरी वस्तु स्त्री के जननेन्द्रिय का प्रतीक, राजा, रानी, पिता व माता के प्रतीक हैं।

डा० फ्रायड के कथनानुसार मनुष्य के अधिक स्वप्न उसकी वासना को व्यक्त करते हैं और स्वप्न में देखे गये अनेक प्रकार के पदार्थ जननेन्द्रिय अथवा रति क्रिया के प्रतीक होते हैं। कामवासना का ही सबसे अधिक दमन साधारण मनुष्य के जीवन में होता है, इसलिये साधारण मनुष्य के स्वप्न अधिकतर इसीसे सम्बन्ध रखते हैं। डा० फ्रायड के अनुसार मनुष्य की सबसे प्रबल वासना, काम वासना है, यही वासना उसके जीवन की अनेक क्रियायें उसके समझ में न आने वाली क्रियाओं का कारण होती है, और स्वप्न भी इसी के कारण होते हैं, डा० पडलर के अनुसार स्वप्न केवल काम वासना की बातों को व्यक्त नहीं करते वे और दूसरी बातें भी बताते हैं। कभी-कभी हमारे स्वप्न भविष्य में होने वाली घटना की रूप-रेखा हमारे सामने रख देते हैं। मनुष्य जो कुछ भविष्य में होना चाहता है, उसके आन्तरिक मन की ज्ञात है अतएव जिस प्रकार वह अपनी कल्पना में भविष्य का निर्माण करता है वैसे ही स्वप्न निर्माण करें तो आश्चर्य क्या। परन्तु मनुष्य के आन्तरिक मन की इच्छा चेतन मन की इच्छा से भिन्न होती है, इसी के कारण स्वप्न में यह इच्छा छिपे रूप से प्रकट होती है और इस इच्छा को पहचानने के लिये मनो-विश्लेषण की आवश्यकता होती है। 'एक सौदागरनी ने स्वप्न देखा कि जब वह अपने आप अस्पताल में पड़ी हुई थी तब उसके नौकर कार्ड खेल रहे हैं। यह स्पष्ट है कि वह महिला स्वयं इस बात को नहीं चाहेंगी, मनोविश्लेषण करने से पता चला कि वह अपने आपको बहुत महान मानती थी और वह सम-

शक्ती थी कि उसके बिना रोजगार का कोई कार्य नहीं चल सकता। स्वप्न ने उसके अभिमान से मरी इस इच्छा को व्यक्त किया और इसके कारण जब वह अस्पताल से लौटकर आई तो अपने नौकरों के अधिक सावधान हो गई। ऐसी अवस्था में यदि वह अपने नौकरों को सचमुच में कांड खेलते देखती है समझती है कि उसका स्वप्न उसे आगाह करने वाला था।

अब प्रश्न यह आता है कि यदि मनुष्य के बड़े बनने की इच्छा उसमें है तो वह उस इच्छा को रूप में अपने स्वप्न में क्यों नहीं देखता? इसके लिये एडलर महाशय ने बताया है कि यदि मनुष्य अपनी महानता की इच्छा को ठीक से जान ले तो इससे उसे दुःख ही होगा। क्योंकि उसे अपनी शक्ति की सीमा का भी ज्ञान रहता है। अतएव जिस बात को मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता, उसकी प्राप्ति का स्पष्ट ज्ञान न होना ही उसके जीवन के लिये कल्याणप्रद है।

डा० युंग स्वप्न को आध्यात्मिक जीवन के ज्ञान के लिये आवश्यक समझते हैं। इससे न केवल मानसिक चिकित्सा के कार्य में सहायता मिलती है वरन् मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा का और उसके रहस्यमयी शक्तियों का भी ज्ञान रहता है। डा० युंग के मतानुसार स्वप्न मनुष्य की दबी इच्छाओं का पूर्तिकरण मात्र नहीं करता वरन् उसके चरित्र को भी व्यक्त करता है। युंग दूसरे मनोवैज्ञानिकों के समान यह मानते हैं कि स्वप्न मनुष्य के अचेतन मन को बाहर लाता है। परन्तु डा० युंग की अचेतन मन का कल्पना डा० फ्रायड की अचेतन मन की कल्पना से बहुत भिन्न है। जिस अचेतन मन को फ्रायड ने सम्पूर्ण अचेतन मन माना है उसे डा० युंग सम्पूर्ण अचेतन मन का एक भाग ही मानते हैं। इस भाग को उन्होंने वैयक्तिक अचेतन कहा है, यह भाग मनुष्य की ऐसी सामान्य इच्छाओं, आकांक्षाओं भावनाओं का वर रहता है जिनकी तृप्ति उसके चेतन मन में नहीं हुई। इस भाग के अतिरिक्त एक ऐसा भाग भी है जिसे डा० युंग ने समष्टि अचेतन कहा है जो कि मानव समाज मात्र की इच्छाओं और भावनाओं से सम्बन्ध रखता है, इस अर्थ में मनुष्य का समष्टि अचेतन उसके वैयक्तिक चेतन और अचेतन मन से कहीं बड़ा रहता है, यह अचेतन मन मनुष्य को समय-समय पर उचित अनुचित का निर्देश देता रहता है और उसकी भलाई के लिये अनेक प्रकार की अवांछनीय घटनाओं के प्रति आगाह करता है। स्वप्न इस अचेतन मन का इन निर्देशों को देने का साधन है, अतएव यदि मनुष्य अपने स्वप्नों को भली प्रकार समझ कर अपनी जायदावस्था के कार्यक्रम को बनावे तो वह कई प्रकार की अनहोनी दुर्घटनाओं से बच जावे।

डा० युंग ने अपने इस सिद्धान्त को अपने एक साथी के स्वप्न के अर्थ को बताकर स्पष्ट किया है, डा० युंग के साथी एक प्रोफेसर को पहाड़ पर चढ़ने का बड़ा भारी शौक था। वह हरेक छुट्टी अल्पस पहाड़ की शिखरों पर चढ़ा करता था। जितना ही खतरनाक चढ़ना होता था उसे उतना ही आनन्द आता था। एक बार उसने चार्ल्स युंग को अपना स्वप्न कहा इस स्वप्न में उसने देखा कि वह एक बड़े ऊँचे पहाड़ की चोटी पर चढ़ते जा रहा है और जब चोटी समाप्त हो गई तब वह शून्याकाश में पैर रखते हुए आगे बढ़ते जा रहा है उसे इस प्रकार के चढ़ने में बड़े ही आनन्द का अनुभव रहा है। डा० युंग ने ऐसे स्वप्न सुनकर अपने साथी को सलाह दी कि वह पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर वन्द कर दे परन्तु उस व्यक्ति ने डा० युंग की इस सलाह को हँसकर टाल दिया। कुछ दिन बाद वह पहाड़ की चोटी पर चढ़ने के लिये चला गया। वह अपने साथ एक साथी और ले गया था। जब यह प्रोफेसर चोटी पर चढ़ रहा था तब उसका मित्र नीचे खड़ा हुआ था। चोटी पर चढ़ते-चढ़ते उसने धोखे में एक खाली स्थान पर पैर रख दिया वहाँ से वह बड़ी ऊँचाई से गिरा वह अपने मित्र के ठिरे पर ही गिरा। इससे उसकी और उसके मित्र दोनों की ही मृत्यु हो गई। डा० युंग इस दुर्घटना

मेरी अनिद्रा के कारण और उनका निवारण

(श्री ज्ञानचन्द चैन, केमिकल एन्जीनियरिंग, फाइनल कक्षा)

मेरा प्रारम्भ ही से यह विश्वास रहा है कि व्यक्ति जो कोई भी छोटा या बड़ा कार्य करता है मानसिक प्रेरणा से प्रेरित होकर ही करता है। वह जो कुछ भी सोचता है अथवा क्रिया करता है उसका उसके विचार-यंत्र पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। प्रत्येक बीमारी या कमजोरी का भी व्यक्ति के मन से सम्बन्ध रहता है। मुझे भी इस बात को अपने व्यक्तिगत जीवन में अनुभव करने का अवसर मिला है।

दिसम्बर के अन्तिम दिनों में हमारी अर्धवार्षिक परीक्षा थी। मेरी प्रायः यह इच्छा रही है कि मैं अपनी कक्षा में प्रथम रहूँ। फलतः मैं अन्य छात्रों और सहपाठियों की अपेक्षा अधिक श्रम करता हूँ।

की रूपरेखा को उस व्यक्ति के स्वप्न में देख चुके थे। उन्होंने उस व्यक्ति को आगाह भी किया पर उसने हठवश उनकी सलाह को नहीं माना।

मानसिक चिकित्सक का सबसे बड़ा सहायक रोगी का स्वप्न होता है। जो रोगी चिकित्सक को अपने स्वप्न बताता रहता है उसका रोग धीरे धीरे समाप्त हो जाता है, स्वप्न का विलकुल न देखना और स्वप्न का अत्यधिक देखना दोनों ही मानसिक चिकित्सा में बाधक होते हैं। यदि रोगी चिकित्सा के समय कोई स्वप्न नहीं देखता तो इसका अर्थ है कि रोगी का मन चिकित्सक पर विश्वास नहीं करता अथवा रोग रोगी से हटना नहीं चाहता या रोगी का अचेतन मन अपने रोग को नहीं छोड़ना चाहता। जब रोगी बहुत ही अधिक स्वप्नों की चर्चा करे तब भी यह रोगी के आन्तरिक मन को समझने में बाधक होता है, क्योंकि रोगी के कुछ ऐसे स्वप्न होने लगते हैं कि जिससे चिकित्सक रोगी के आन्तरिक मन को न जान पावे। जब रोगी और चिकित्सक में हार्दिक एकता हो जाती है तब रोगी को इस प्रकार के स्वप्न होते हैं जिनका अर्थ चिकित्सक को सरलता से स्पष्ट हो जाता है। रोगी का आन्तरिक मन न केवल रोग का कारण जानता है वरन् वह उसका उपचार भी जानता है। स्वप्न के द्वारा रोगी का आन्तरिक मन चिकित्सक को रोग के उपचार का मार्ग भी बता देता है।

डा० चार्ल्स युंग के स्वप्न के अर्थ के सिद्धान्त को हम माने तो हमें यह मानना पड़ता है कि स्वप्न का अर्थ जानना न केवल मानसिक रोगियों की चिकित्सा के लिये आवश्यक है वरन् उसका अर्थ जानना सामान्य लोगों के लिये भी आवश्यक है, जिससे कि वे किसी बात के विषय में अपने अन्तर्मन की इच्छा को जान सकें और अपने चेतन मन के कार्यों को इस प्रकार बनावे जिससे कि इस इच्छा का विरोध न हो। मनुष्य को जीवन में सफलता तभी मिलती है जब उसमें नित्यप्रति के कार्य केवल अपने अचेतन मन की इच्छा की पूर्ति के लिये नहीं होते वरन् उसके अचेतन मन की इच्छा की भी पूर्ति करते हैं, मनुष्य का चेतन मन, केवल व्यक्तिगत इच्छाओं, आकांक्षाओं, भावनाओं से संबन्ध रखता है, परन्तु उसका अचेतन मन समष्टि की भावनाओं, आकांक्षाओं की धारणा करता है, मनुष्य जीवन में तभी उत्थान करता है जब उसके चेतन मन की क्रियायें अचेतन मन द्वारा समर्थन प्राप्त करती हैं, मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में विरोध होने पर ही उसे अनेक प्रकार के शारीरिक व मानसिक रोग होते हैं, तथा अनेक प्रकार की दुर्घटनायें जीवन में हो जाती हैं। इस प्रकार स्वप्न का ठीक ठीक ज्ञान हमें जीवन को सफल बनाने में नितान्ताश्यक होता है।

(श्री पशुपतिनाथ मुकुर्जी)

परीक्षा के पूर्व से ही मैंने कठिन परिश्रम करना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ तक कि कई दिन चार घण्टे सोया और अपना अध्ययन करता रहा। मैं नहीं समझता था कि मेरे मानसिक जीवन पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। अन्त में परीक्षा हुई और मुझे अपनी इच्छा के अनुसार फल भी मिला। केवल एक विषय में मुझे अत्यन्त निराशा हुई। परन्तु जनवरी के प्रारम्भ में ही मुझे यह अनुभव होने लगा कि मुझे अनिद्रा का रोग हो गया है। एक दो दिन मैंने सोने का प्रयत्न किया परन्तु सफलता नहीं मिली। मेरे मन में यह बात आ चुकी थी कि मुझे 'अनिद्रा' का रोग हो गया है। ज्यों-ज्यों मैं इस बात पर विचार करता गया, मुझे और अधिक दुःख होने लगा कि आखिरकार किन कारणों से मुझे यह चिन्ता और यह बीमारी हुई। साथ-साथ यह भी होने लगा कि मैं एक या आध घण्टे जो कुछ भी सोता उसमें कभी-कभी स्वप्नदोष भी होता था। मेरी शारीरिक स्थिति तो बिगड़ती ही जाती थी साथ-ही-साथ कुछ स्मरण शक्ति भी कम होने लगी। पहिले तो मैंने १०-१२ दिन कुछ भी औषधि नहीं की; परन्तु जब रोग बढ़ता ही गया तो मैंने अपने एक मित्र से यह बात बताई। यह मित्र इस वर्ष के जीवन में सबसे वनिष्ठ मित्र था। उसने मुझे शान्त्यना दी और कुछ आयुर्वेदिक दवा के सेवन करने की सलाह दी परन्तु कुछ भी सन्तोषजनक लाभ नहीं हुआ।

कालेज में मेरे अनेक मित्र हैं जिनके मुँह से मैं कई बार सुन चुका था कि शुक्लमानसिक रोगियों की चिकित्सा करते हैं और उनसे लाभ भी हो जाता है। मुझे इस परिस्थिति में इस बात का स्मरण आया। मैंने सोचा कि एक दिन आपके पास आकर मैं भी अपना उपचार कराऊँ। शाम को रमेश के साथ मैं आपके पास आया। परन्तु आपसे भेंट न हो सकी। अतः मैं आनेकी बात कहकर निराश होकर चला गया। अपने बोर्डिङ्ग में जाकर मैंने एक और साथी से जो कि मेरे कमरे में रहते थे इस बात की चर्चा की। उन्होंने आपके द्वारा लिखित सरल मनोविज्ञान नामक पुस्तक पढ़ने को दी। उसको पढ़कर कुछ कार्य रूप में परिणत करने की बात कही। मैंने इस पुस्तक के कुछ पढ़े। पुस्तक मुझे अच्छी लगी और मेरे उद्देश्य के अनुसार भी उसमें मुझे कुछ सामग्री मिली। अनिद्रा और सम्मोहन शीर्षक अध्याय में मुझे अनिद्रा की बीमारी शीर्षक एक अंश मिला। उसे मैंने बार बार पढ़ा और सोचा। आपने उसमें लिखा है—

'अनिद्रा से पीड़ित व्यक्ति को नींद न आने की चिन्ता ही की सबसे बड़ी चिन्ता रहती है वह नींद के बारे में सोचा करता है और यह नींद न आने की प्रबल चिन्ता ही बाधक हो जाती है। नींद आने के लिए नींद के विषय में सोचना भी बन्द रखना आवश्यक है। अनिद्रा के रोग से पीड़ित व्यक्ति नींद की चिन्ता से मुक्त रखना बहुत ही आवश्यक है। जहाँ पर अनिद्रा के कारण बहुत से मानसिक और शारीरिक क्षति हो सकती है वहाँ उसको यह धारणा बना लेनी चाहिये कि अनिद्रा का होना एक साधारण सी बात है। बिना नींद के भी मनुष्य जीवित रह सकता है। इस प्रकार की भावना मन में आते ही अनिद्रा का भय चला जाता है। अनिद्रा से पीड़ित व्यक्ति में उत्साह और आत्मविश्वास कम हो जाती है। निद्रा लाने के लिए मनुष्य में अपने शरीर को शिथिल करके लेट जाना चाहिये अपने विचारों को बाहरी विषय पर जाने से रोक देना चाहिए।'

मैंने देखा कि ये बातें मेरे ऊपर घटती हैं। मैं उस रात को ऐसा करने से खूब सो सका क्योंकि मैंने भी चिन्ता नहीं हुई। मैंने सोचा कि इस पुस्तक को पढ़कर उसके अनुसार किया करने मुझे यह लाभ हुआ। दूसरे दिन मैं आपके पास आया और अपने भय की स्थिति बतलाई। आपके साथ विद्यापीठ तक गया वहाँ आपका भाषण सुना। रास्ते में मैंने आपको अपनी सारी बातें बताईं।

मानसिक चिकित्सा का रहस्य

रोग मनुष्य की असमर्थता का द्योतक है। जिस मनुष्य को जीवनमें आशा और उत्साह रहते हैं, जिसकी कल्पना रचनात्मक होती है जो अपने मन को किसी रचनात्मक कार्य में लगाए रखता है उसे न तो मानसिक रोग रहता है और न तो सफलता से कोई शारीरिक रोग भी उसे आता है। जब मनुष्य की परिस्थितियाँ बहुत कुछ उसके प्रतिकूल होती हैं और जीवन उसे भार रूप बन जाता है तब वह आन्तरिक मन से बढ़ा बेचैन हो जाता है कोई भी मनुष्य अपने आप को असमर्थ और निष्प्रभा जान कर सुखी नहीं रहता। अपने निष्प्रभपन का ज्ञान मनुष्य को जितना दुःख देता है उतना दुःख और कोई दूसरी बात से नहीं देता। अपने निष्प्रभपन को भुलाने के लिए मनुष्य रोग का आवाहन करता है जिससे कि वह अपनी आत्मग्लानि को किसी प्रकार भुला सके और अपने आप को न कोश कर अपनी असफलता के कारण को किसी बाहरी बात के सिर मढ़ सके। इस तरह कितने ही मनुष्यों के शारीरिक अथवा मानसिक रोग उनके जीवन की रक्षा करते हैं। वे मानो अन्धे की लफड़ी बन कर किसी प्रकार उनके जीवन को चलाते रहते हैं।

मनुष्य की असफलता की अनुभूति दो प्रकार की होती है एक भौतिक जीवन में असफलता और दूसरे नैतिक जीवन की असफलता। प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तर्मन से दोनों ही प्रकार की असफलताओं का इच्छुक होता है। जब किसी मनुष्य को संसार में घन दौलत और लौकिक सम्मान उतना नहीं मिलता जितने की वह आशा करता है तब वह अपने आप के विषय में निराश हो जाता है। वह अपने भाग्य को कोसने लगता है। यदि वह इस असफलता के कारण को परिस्थितियों पर आरोपित कर सका तब वह अपनी असफलता के लिए अपने आप को न कोश कर परिस्थितियों को ही कोसता है। इससे वह आत्मवेदना से थोड़े समय के लिए बच जाता है। परन्तु जब उसका विवेक परिस्थितियों में अपनी असफलता का पर्याप्त कारण नहीं देखता, तब वह अपने आप को ही कोसने लगता है। इस प्रकार की कोसने की मनोवृत्ति से बचाने के लिए मनुष्य का आन्तरिक मन किसी प्रकार के रोग का निर्माण कर देता है जिससे कि उसका मन आत्म-विनाश के आपने मुझे विश्वास दिलाया कि तुम शीघ्र ही ठीक हो जाओगे। मैं उस दिन से आज तक आपके कहे अनुसार चलता रहा और मुझे अब पूर्ण लाभ है। मैं अब सोचता हूँ कि अनिद्रा की बीमारी कोई बीमारी ही नहीं। मुझे उससे व्यर्थ ही मय था।

दूसरी बात मैंने आप से यह भी सीखी कि दूसरे व्यक्तियों की भावना का भी व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव पड़ता है। मुझे आपने कहा था कि तुम अपने किसी मित्र से अपने भलाई के विषय में सोचने को कहना और वह प्रतिदिन रात्रि को दस पॉंच मिनट तुम्हारे लाभ के विषयमें सोचे मैंने ऐसा भी किया इससे भी मुझे पर्याप्त लाभ हुआ। आपने मुझे बड़ी शक्तियों का केन्द्र बताया और अपने जीवन को अपना न समझ कर दूसरे का समझने को कहा। मैं उस दिन से कोई भी कार्य करता हूँ तो यह सोच कर करता हूँ कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, दूसरे के हित के लिए कर रहा हूँ। मैं देखता हूँ कि तब से मेरा कोई भी कार्य असफल नहीं होता और मैं अब बहुत कुछ उत्पादित हो गया हूँ। निराशा भी कुछ दूर होने लगी है। अनिद्रा की बीमारी तो अब पूर्णतया दूर हो चुकी मैं अब स्वस्थ होने लगा हूँ।

कार्य अथवा अपने को कोसने में न लगकर किसी दूसरे प्रकार की चिन्ता में फँसा रहे और प्रकार वह अपनी असमर्थता को भुला सके, तथा उसके कारण को किसी बाहरी वस्तु से मढ़ सके जिस व्यक्ति की महत्वाकांक्षाएँ क्षिप्तनी बढ़ी होती हैं उसे इस प्रकार के रोगी बनने की उतनी ही अपेक्षा आवश्यकता होती है। लौकिक जीवन में असफल व्यक्ति न्यूरेस्थेनियॉ, हैपोकैण्ड्रिया और अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों से पीड़ित हो जाते हैं जिसका कारण मानसिक होता है जैसे दमा, सिर की पीड़ा, पेट की पीड़ा, लकवा आदि।

दूसरे प्रकार की असफलता नैतिक होती है। जब मनुष्य अपनी विवेक बुद्धि के प्रतिकूल आचरण करता है तो उसे भारी आत्मग्लानि होती है। वह अपने कृत्य को जन समाज से तो छिपाने में समर्थ होता है परन्तु अपने आपसे छिपाने में समर्थ नहीं होता। कोई भी मनुष्य अपने आप के विषय में यह सोचना नहीं चाहता कि वह नैतिक दृष्टि से उसी के समान दूसरे लोगों से किसी प्रकार हीन है। जिस मनुष्य को भौतिक धन की अथवा उच्च कुल की कमी रहती है वह अपने नैतिक धन से संतोष करता है। मनुष्य का नैतिक धन दूसरे प्रकार के धनों से श्रेष्ठ है। जब किसी व्यक्ति को इस धन को खोने का ज्ञान होता है तो उसे भौतिक धन के खोने से भी अधिक वेदना होती है। जिस मनुष्य को नैतिक धन है वह दूसरों का सम्मान पावे अथवा नहीं उसे आत्म-सम्मान तो रहता ही है। जब किसी कारण वश मनुष्य कोई ऐसा आचरण कर डालता है जिससे कि उसकी नैतिकता को आघात पहुँचता है तब वह भारी आत्मग्लानि का अनुभव करता है और वह अपने आप को कोसने लगता है। जिस मनुष्य को अपनी नैतिकता का चितना ही अधिक अभिमान रहता है उसे अपने को कोसने की उतनी ही अधिक आवश्यकता रहती है। इस प्रकार के कोसने से बचाने के लिए अर्थात् अपनी नैतिक कमी को भुलाने के लिए भी मनुष्य को अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ये रोग प्रतीक रूप से मनुष्य की दबी हुई भय की भावना को बाहर करते हैं। नैतिकता को बूढ़ बनाये रखने के लिए मनुष्य को अपनी प्रबल पाशविक प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है इन प्रवृत्तियों का दमन होने पर उनकी शक्ति और भी बढ़ जाती है। फिर ये प्रवृत्तियाँ किसी विशेष परिस्थिति में अपने आप उल्लेखित हो जाती हैं और इनके उल्लेखित होने के साथ साथ मनुष्य में अकारण भय, चिन्ता, हृदय की घड़कन अथवा किसी विशेष प्रकार की शारीरिक पीड़ा पैदा हो जाती है। जो मनुष्य अपनी प्रबल पाशविक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने का सामर्थ्य खो देता है उसे अपने आप को भुलाने के लिए देर तक रहने वाले शारीरिक अथवा मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार दमा, क्षय, एक्जिमा, आदि शारीरिक रोग और अकारण चिन्ता तथा मैलेकोलिया जैसे मानसिक रोग ऐसे व्यक्तियों को हो जाया करते हैं।

अभी हाल की ही बात है कि एक युवक स्मरण शक्ति के हास और कुछ रोग हो जाने के भय से पीड़ित होकर हमारे यहाँ आया। इस रोगी के मानसिक अध्ययन से पता चला कि उसके मन में अपने पिता के प्रति प्रबल घृणा का भाव था। इसके अतिरिक्त उसमें प्रबल समलिंगी व्यभिचार की भी प्रवृत्ति थी इसके लिए उसकी अन्तरात्मा उसे कोसती थी। वह अपनी इस नैतिक कमी को भुला चुका था और अब उसे कुछ रोग हो जाने का भय ही सताते रहता था। बिन लोगों को इस प्रकार के अकारण भय हो जाते हैं उनके आन्तरिक मन में यह बात बैठती रहती है कि समलिंगी व्यभिचार से कुछ रोग हो जाता है अथवा पितृद्वेष से कुछ रोग होता है। अतएव जब कभी बाहरी परिस्थिति ऐसी उत्पन्न होती है जिससे उनके मन में पितृद्वेष का भाव आवे अथवा व्यभिचार की मनोवृत्ति उल्लेखित हो तो कुछ रोग

का भय पहले ही से उत्पन्न हो जाता है और इस प्रकार की प्रवृत्तियों के उत्तेजित होने से मनुष्य को बचाता है।

इसी प्रकार जिन लोगों के मन में एक ओर प्रबल नैतिक धारणा रहती है और दूसरी ओर प्रबल काम वासना भी रहती है उन्हें अकारण ही हृदय की धड़कन उत्पन्न हो जाती है। उन्हें भय हो जाता है कि कहीं वे एकाएक हार्टफेल हो जाने से न मर जायें। किसी दूसरे व्यक्ति की धड़कन अथवा हृदय रोग से मरने की चर्चा सुनकर उन्हें हृदय की धड़कन प्रारम्भ हो जाती है और हृदय का रोग आकर घर दबाता है। वास्तव में इस प्रकार के रोग का कारण दमित काम वासना का उत्तेजित होना और नैतिकता द्वारा दमित किया जाना होता है। काम वासना की उत्तेजना और उसका दमन दोनों ही अज्ञात रूप से होते हैं। केवल उनके परिणाम मात्र मनुष्य की चेतना के समक्ष आते हैं। ऐसे व्यक्ति के जीवन में बाहरी रूप से बढ़ी चढ़ी नैतिकता पायी जाती है, परन्तु भीतरी मन से उन्हें अपनी नैतिकता की दृढ़ता में विश्वास नहीं रहता। बहुत से हृदय के रोग से पीड़ित व्यक्ति अनेक प्रकार के धार्मिक आचार-व्यवहार अथवा पूजा पाठ करते रहते हैं। परन्तु इस प्रकार के आचार व्यवहार अपनी आन्तरिक नैतिकता की कमी को मुलाने के उपाय मात्र होते हैं। इससे मनुष्य का मानसिक रोग नहीं जाता वरन् वह दृष्टि से ओझल हो जाता है।

मानसिक रोग की समाप्ति के लिए मनुष्य में आत्म-विश्वास का होना नितान्त आवश्यक है। यदि उसका घन कमाने संबंधी अथवा लोक सम्मान संबंधी आत्म-विश्वास खो गया है और इसके कारण वह रोगी बना हुआ है तो उसे इस संबंध में आत्म-विश्वास उत्पन्न कराना होगा और यदि उसे अपनी नैतिकता के विषय में आत्म विश्वास खो गया है तो नैतिकता के क्षेत्र में उसका आत्म विश्वास बढ़ाना होगा जब तक मनुष्य को अपनी सामर्थ्य में विश्वास नहीं होता चाहे यह सामर्थ्य लौकिक क्षेत्र में हो अथवा नैतिक क्षेत्र में, तब तक वह आरोग्य प्राप्त नहीं करता। इस सामर्थ्य की प्राप्ति अपने आप को मुलाने की चेष्टा करने से नहीं होती वरन् अपने आप को जानने से हो होती है। अपने आपको मुलाने से रोग बढ़ता ही जाता है। मनुष्य अपनी वास्तविक कमी को जब तक जानता नहीं है तब तक वह विजय प्राप्त कैसे कर सकता है? जो अपनी गरीबी को इस कल्पना के द्वारा मुलाने की चेष्टा करता है कि वह एक राजा है तो वह अपनी गरीबी से मुक्त कैसे होगा चाहे वह गरीबी भौतिक क्षेत्र की हो अथवा नैतिक, परन्तु यदि किसी मनुष्य को अपनी सभी कमियों का एकाएक ज्ञान हो जाय तो उसे जीना भी कठिन हो जायगा। कमियों का ज्ञान व्यक्ति के मन में इतना दुःख पैदा करता है कि यह दुःख उसे असह्य होता है। इसी लिए ही मनुष्य इस ज्ञान को सामने न आने देकर रोग के दुःख को ही स्वीकार करता है। रोग प्रतीक रूप से मनुष्य की कमी को व्यक्त करते हैं। वे जीरे घीरे मनुष्य की कमी को उसके सामने लाते हैं और इस प्रकार उसकी मानसिक उलझनों को हटाते हैं। रोग आन्तरिक असन्तोष को हटाने के प्राकृतिक उपाय हैं।

मनुष्य अपनी कमियों का तभी सामना कर कर सकता है जब कि उसे भली प्रकार से प्रोत्साहित किया जाय। मनुष्य उर्ध्व कमी को स्वीकार करेगा जिसपर विजय प्राप्त करने का उसमें आत्म विश्वास रहेगा। यह आत्म विश्वास किसी प्रकार के दमन से अथवा दण्ड से उत्पन्न नहीं हो सकता। यह केवल स्नेह से ही उत्पन्न हो सकता है। सच्चा मानसिक चिकित्सक रोगी को यह आत्म-विश्वास दिलाता है कि जिस कमी से वह इतना भयभीत है कि उसे स्वीकार ही नहीं करना चाहता वह असामान्य नहीं वरन् सामान्य है। सभी लोगों में इस प्रकार की कमी रहती है और वे इन कमियों पर विजय भी प्राप्त करते हैं। अनेक प्रकार के उदाहरण देकर रोगी के मन में यह घैठाना पड़ता है कि उसकी असफलता

असामान्य नहीं वरन् सामान्य वस्तु है और उसे इस असफलता से हतोत्साह न होना चाहिए ।

चिकित्सक एक ओर रोगी को अपनी कमियों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करता है और दूसरी ओर उसे झूठे अभिमान से मुक्त होने के लिए भी सहायता देता है । मनुष्य दो प्रकार की भूल करता है—एक तो वह नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करता है अथवा अपने को महानतम बनाने की ओर ले जाने वाली बात के प्रतिकूल चलता है और दूसरे वह अपनी कमी को भी भुलाने का प्रयत्न करता है । संसार की दुर्घटनाएँ और शारीरिक तथा मानसिक रोग सुधारक दण्ड के रूप में मनुष्य के जीवन में आते हैं । वे एक ओर उसकी कमियों को व्यक्त करते हैं और दूसरी ओर उसके अभिमान को घटाते हैं । मनुष्य के अभिमान को घटाना ही रोगों का प्रधान उद्देश्य रहता है । यदि मनुष्य अपने अभिमान को अपने आप घटा ले और किसी बात में असाधारण बनाने की चेष्टा न करे तो उसे इतने भारी पुरुषार्थ की आवश्यकता ही न हो जितने भारी पुरुषार्थ की उसे अन्यथा आवश्यकता होती है और जिसके न कर सकने के कारण उसे कमी की अनुभूति होती है । मानसिक चिकित्सक रोगी में अपने स्नेह के द्वारा सच्चा आत्म-विश्वास उत्पन्न करता है । इसके उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य को न केवल उसकी भौतिक वरन् नैतिक कमियाँ भी नगण्य दिखाई देने लगती हैं । इस प्रकार का आत्म-विश्वास उत्पन्न करने के लिए चिकित्सक को रोगी के किसी ऐसे गुण का चिन्तन करना पड़ता है जिससे वह उसे पूरे मन से प्राप्त कर सके ।

रोगी में अनेक प्रकार के दुर्गुण होते ही हैं । रोगी दुर्गुणों को छिपाने का यत्न करता है उसी के परिणाम स्वरूप उसे रोग होते हैं । रोगी इन दुर्गुणों से मुक्त होने की आशा नहीं करता । यदि चिकित्सक भी इस मत का हो जाय कि उसके दुर्गुण किसी प्रकार समाप्त नहीं हो सकते अथवा रोगी अपनी कमियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता तो रोगी को कोई भी लाभ नहीं पहुँचा सकता, वह चाहे कितना ही कुशल मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषक क्यों न हो । जब तक चिकित्सक रोगी को स्नेह नहीं करता तब तक रोगी के आन्तरिक मन का अपने ही प्रति घृणा का भाव समाप्त नहीं हो सकता । मनोविश्लेषक केवल इतना ही करता है कि वह मनुष्य की घृणित अथवा भयानक भावनाओं को मनुष्य की चेतना की सतह पर ले आता है; परन्तु जब तक वह मनुष्य में इस पुरुषार्थ का उदय नहीं करता कि वह इन घृणित अथवा भयानक भावनाओं पर विजय प्राप्त कर ले तब तक ये भावनाएँ उसके रूप में न तो चेतना की सतह पर आएँगी और यदि वे आ भी गईं तो फिर से अन्तर्धान हो जाएँगी ।

डा० फ्रायड की खोज के परिणाम स्वरूप अब हम अन्तर्गत की ऐसी अनेक बातों को जानने लगे हैं जो हमें पहले ज्ञात नहीं थीं । मनोविश्लेषण विज्ञान मनुष्य के अन्तर्मन की व्यक्त करने का साधन है । मनोविश्लेषण विधि के द्वारा बहुत से रोगी अच्छे हो जाते थे, परन्तु इनके अच्छे हो जाने का रहस्य रोगी का मनोविश्लेषण नहीं था वरन् चिकित्सक का रोगी को सच्चे स्नेह युक्त शब्दों के द्वारा प्रोत्साहन था । मनोविश्लेषण केवल रोगी को चिकित्सक के प्रति सच्चा बनने में, उसके समक्ष सब प्रकार की आत्म स्वीकृति करने में सहायक होता है । चिकित्सक के समक्ष आत्म स्वीकृति करना अपने आदर्शमय स्वत्व के प्रति ही आत्मस्वीकृति करना है । चिकित्सक के लिए रोगी अपने ही आदर्श स्वत्व का प्रतीक होता है । अतएव चिकित्सक के प्रति आत्म स्वीकृति करने से एक उचित माध्यम के द्वारा मनुष्य के आदर्शात्मक स्वत्व और भोगेच्छुक स्वत्व में एकता स्थापित होती है; परन्तु यह एकता तभी स्थापित होगी जब कि चिकित्सक रोगी को उतना ही अधिक प्यार करते जाय जितना रोगी उसके समक्ष आत्मस्वीकृति करे । यदि रोगी की किसी बात को जानकर चिकित्सक उसे घृणा करने लगे तो इससे न केवल रोगी की हानि होगी वरन् चिकित्सक की भी हानि होगी । अपने स्वार्थवश किसी मानसिक रोगी की चिकित्सा करना अथवा किसी रोगी की

कमजोरियों को जानकर उससे घृणा करने लग जाना चिकित्सक के लिए बहुत ही हानिप्रद है। इससे कभी-कभी मानसिक रोगी का रोग चिकित्सक को ही लग जाता है। चिकित्सक रोगी की वही तक सहायता कर सकता है जहाँ तक वह रोगी की गुप्त मन की क्रियाओं में अपनी ही क्रियाओं का स्पर्शीकरण देखता है। जो रोगी का मन करता है वही सभी लोगों का मन करता है। हम दूसरे का मन समझ कर अपने ही मन की गुप्त-बातों को जानते हैं और इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार करते हैं। मानसिक चिकित्सा के आधुनिक काल के सर्व श्रेष्ठ विशेषज्ञ चार्ल्सयुंग महाशय का तो यह कथन है कि चिकित्सक रोगी को तभी अच्छा कर सकता है जब वह रोगी के समक्ष उसी प्रकार की आत्म-स्वीकृति करे जिस प्रकार की आत्म स्वीकृति वह रोगी से चाहता है। जितना ही चिकित्सक अपने आप अभिमान रहित होगा, वह रोगी को उतना ही अधिक अभिमान से मुक्त कराने में सहायक होगा। स्नेह बराबरीके लोगों में होता है। अगर चिकित्सक अपने को महान व्यक्ति समझता है और रोगी को नगण्य व्यक्ति समझता है अथवा पापी और अपराधी मानता है तो वह रोगी की कोई भी सहायता करने में समर्थ न होगा।

मनुष्य सम्पूर्ण आरोग्य तभी प्राप्त करता है जब वह अपने सच्चे स्वत्व को पहचानता है। इसके पहचानने पर मनुष्य को झूठे अभिमान की आवश्यकता नहीं होती। घन का, विद्या का, कुल का, पद का और अपनी नैतिकता का भी अभिमान सभी झूठे अभिमान हैं। यह सब अभिमान मनुष्य में आन्तरिक पूर्णता के अभाव के द्योतक है। मनुष्य बाहरी पूर्णता के लिये लालायित तब तक रहता है जब तक उसे आन्तरिक पूर्णता का ज्ञान नहीं रहता। आन्तरिक पूर्णता का ज्ञान अन्तर्मुखी बनने से होता है। जिस चिकित्सक को स्वयं इस पूर्णता का ज्ञान है वह प्रत्येक व्यक्ति में उस पूर्णता की उपस्थिति को देखता है वह इसके कारण ही उसे स्नेह करता है। इस पूर्णता के रहते हुए मनुष्य की दूसरी सभी प्रकार की अपूर्णताएँ काल्पनिक हैं। सच्चा चिकित्सक रोगी को एक ओर उसकी काल्पनिक पूर्णताओं के अभिमान से मुक्त करता है और दूसरी ओर वह उसे तत्संबंधी कमियों से भी मुक्त करता है। यह कार्य रोग के प्रति स्नेह के व्यवहार से सरल हो जाता है। सच्चे चिकित्सक की सहायता से मनुष्य अपनी अन्तरात्मा की शक्ति से साक्षात्कार करता है। अन्तरात्मा का ज्ञान वह है जिसकी थोड़ी सी भी चिनगारी अनेक प्रकार की कलुषित भावनाओं को अनैतिक आचरण की प्रवृत्तियों को क्षण भर में समाप्त कर देती है। इसके स्मरण मात्र से मनुष्य को अपार मानसिक शक्ति प्राप्त होती है। उसमें नए पुनर्वास का उदय हो जाता है और उसके अनेक प्रकार के मानसिक द्वन्द्व क्षण भर में समाप्त हो जाते हैं। डा० विलियम ब्राउन ने तो आत्म निर्देश की विधि बताई है वह वास्तव में अन्तरात्मा से सम्पर्क स्थापित करने की विधि है।

अपनी अन्तरात्मा से सम्पर्क स्थापित करने के लिए किसी एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता होती है जिसका नैतिक जीवन उस स्तर का हो और जो हमें पूरे मन से प्यार करता हो जिसके समक्ष यदि हम अपनी कमजोरियों को स्वीकार करें तो यह भय न हो कि हम उसका स्नेह खो देंगे। ऐसा व्यक्ति हमारी आत्मा का ही प्रतीक होता है। इससे एकता स्थापित करने से हम अपने सर्वोत्तम स्वत्व से एकत्व स्थापित कर लेते हैं और जितना ही हम ऐसे व्यक्ति के कृपा पात्र बनते हैं अपनी आत्मा के कृपापात्र बन जाते हैं। मनुष्यको सबसे अधिक ताड़ना बाहरी परिस्थितियों और मनुष्यों से नहीं मिलती, उसे सबसे बड़ी ताड़ना अपनी अन्तरात्मा से ही मिलती है और जब हम आत्मा की अनुकूलता प्राप्त कर लेते हैं तो सभी प्रकार के जीवन में सफलता तथा मानसिक और शारीरिक आरोग्य प्राप्त कर लेते हैं।



मनोवज्ञानिक संजीवनी

मनुष्य के जीने के लिये, उसके जीवन में प्रगति के लिये, उसके स्वास्थ्य सुचार के लिये तथा सफलता प्राप्ति के लिये जितनी भौतिक साधनों की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक आवश्यकता उसे उसके विचारों में परिवर्तन की है। जिस मनुष्य का जीवन की विभिन्न घटनाओं के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण है, जो आशावादी कल्पना सदा मन में लाता है और अपने आपको भले विचारों के वातावरण में डाल देता है वह न तो जटिल शारीरिक और न मानसिक रोगों में पड़ता है, न किसी सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक उलझन में आ फँसता है जिससे निकलने का वह मार्ग ही न देखे, और न वह अकारण ही अपने आप शत्रुओं की सृष्टि कर लें। उचित दृष्टि कोण के होने पर जीवन को कठिन से कठिन उलझनों सरलता से सुलझ जाती हैं। जटिल से जटिल मानसिक अथवा शारीरिक रोग आशावादी कल्पनाओं के कारण व्यक्ति को छोड़ देते हैं और वहाँ दूसरे व्यक्ति को सफलता के कोई चिन्ह दिखाई नहीं देते वहाँ उचित दृष्टि बिन्दु वाला व्यक्ति अनेक प्रकार की अपने कार्य में सहायक सामग्री पा लेता है।

मनुष्य के विचार उसके स्वास्थ्य पर कितने प्रकार का चमत्कारिक प्रभाव डालते हैं, इस विषय पर मनोविज्ञानशाला में प्रति दिन के प्रयोग महत्व का प्रकाश डालते हैं। अभी हाल की बात है कि हमारे पास दो नवयुवक अपनी व्याधियों को लेकर आये। एक ६ साल से स्वप्नदोष से पीड़ित था, और अपने जीवन से ही निराश हो चुका था। एक दूसरे नवयुवक को अकारण ही 'नाराज' शब्द हर समय सुनाई देते रहता था। खाते, पीते, उठते, बैठते, वह हर समय 'नाराज' 'नाराज' की ध्वनि सुनते रहता था। इस 'नाराज' के कारण वह अपने मित्रों में हँस, खेल नहीं सकता था। किसी प्रकार के मनोरंजन में भाग नहीं ले पाता था और जीवन के मविष्य के विषय में बड़े निश्चय नहीं कर सकता था। ये दोनों ही नवयुवक देखने में आकर्षक, शरीर में सुबोल, और बातचीत में बड़े चतुर हैं, परन्तु अपनी मानसिक परेशानी के कारण दोनों ही उदास और चिन्तित दिखाई देते थे। दोनों बड़े होनहार इस दृष्टि से हैं कि इन्होंने अनेक प्रकार की आर्थिक कठिनाइयाँ होते हुये भी कालेज की उच्चतम वर्ग की पास करने का निश्चय कर लिया है। स्वप्नदोष वाला विद्यार्थी तो सदा प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी रहा है और 'नाराज' ध्वनि से पीड़ित व्यक्ति इस समय आर० ए० पास करके रेलवे का कर्मचारी है। दोनों ही युवक अविवाहित हैं। बीस वर्ष की अवस्था के लगभग हैं। स्वप्न दोष के रोगी ने अपने रोग का अनेक कुशल वैद्य व डाक्टरों से कई प्रकार का उपचार कराया, 'परन्तु भर्ज

बढ़ता ही गया 'क्यों क्यों दवा होती गई'। किसी ने सहानुभूति में आकर सलाह दी कि यह रोग विचार करने पर ही जायगा। किसी ने सलाह दी कि अपने गंदे विचारों पर नियंत्रण रखो, कामवासना संबंधी किसी विचार को मन में न आने दो, सभी साधियों की हंसी मजाक की बातों से दूर रहो, आजकल के कामोत्तेजक सिनेमा फिल्मों को मत देखो तो धीरे धीरे तुम्हारे स्वप्न काम उत्तेजक दृश्यों से मुक्त हो जायेंगे। इस नवयुवक ने यह सब अपने शरीर के सजावट को छोड़ दिया, न केवल अपने मिलने जुलान में उसने परिवर्तन किया बरन् भोजन में भी सादगी अपनाई। ज्ञान बृद्धकर शरीर को क्लेश में रखने लगा। तब पर भी उसने देखा कि जिन काम क्रीड़ा की-बातों को वह अपनी जागृतावस्था में कभी मन में नहीं आने देता वे ही स्वप्नावस्था में अनेक प्रकार के सज घज के साथ सताया करते थे। जितना ही वह स्वप्नदोष को रोकने का प्रयत्न करता है वे दिन प्रति दिन बढ़ते जाते थे। अब तो उसे धीरे धीरे इस लड़ाई में विजय प्राप्ति से निराशा आने लगी। उसने मेट्रिक में कई विषय में डिस्टींक्शन के साथ पास किया। आई० एस० सी० में उसे पूरा प्रयत्न करने पर भी द्वितीय श्रेणी मिली। इस समय वह बी० ए० में प्रथम श्रेणी के बदले द्वितीय श्रेणीका विद्यार्थी बन गया है। जब उसके अभिभावकों ने उसकी विचार करने की बात सोची तब वह उससे भी बचड़ाया। उसने सोचलिया था कि वह तो शीघ्र पतन वाला अथवा एक प्रकार का नपुंसक व्यक्ति बन चुका है। वह किसी युवती का जीवन क्यों खराब करें। इस प्रकार के निराशा जनक विचार उसे पागलपन की ओर ले जा रहे थे।

जब यह युवक मनोविज्ञानशाला में आया उस समय उसकी छुमाही परीक्षा हो रही थी। उसने परीक्षा की पूरी तैयारी की थी, परन्तु सब प्रकार की तैयारी होने पर भी वह अकारण सिर की पीड़ा, हड्डि की चड़कन, मानसिक बेचैनी, और अनिद्रा के कारण परीक्षा न दे सका। वह अपने आपसे काफ़ी लड़ता था। जब उसके तीन, चार पच्चे रह गये थे। वह अपने नगर से एकाएक अपने एक मित्र के पास बंसा चल पड़ा। यहाँ पर वह एक प्रतिष्ठित डा० से मिला। उन्होंने कुछ दवा बताई, परन्तु एक पुर्जे पर लिख दिया कि यह मानसिक रोगी है। रोगी चालाक तो है ही डा० की कलम के हलचल से ही डा० ने गुप्त पुर्जे में क्या लिखा है जान गया। फिर वह मानसोपचार की खोज में शाला में आया। उसने अपने जीवन की पूरी गाथा कह सुनाई, और अपना यह निश्चय बताया कि जब मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा तब आगे पढ़ूँगा वरन् पढ़ना त्याग दूँगा। जब रोग के कारण प्राण ही गँवा देना है तो पढ़ने से क्या लाभ और मैं यह नहीं चाहता कि पढ़ते हुये तृतीय श्रेणी में पास करूँ।

इस विद्यार्थी की सभी मानसिक वेदनायें बड़ी सहानुभूति के साथ सुनी गई। यह दर्शन का विद्यार्थी है और नीति शास्त्र को बहुत ही अच्छा उसका अध्ययन है। अपने विषय का अच्छा विद्यार्थी होने के नाते उसके प्रति लेखक की विशेष प्रकार का सहज स्नेह हुआ। उससे दो घंटे तक बातचीत हुई और उसे कई दूसरे रोगियों का उदाहरण देकर बताया गया कि जितना उसका रोग भयंकर है उससे भी अधिक भयंकर रोग से पीड़ित व्यक्ति मानसोपचार के द्वारा इस रोग से मुक्त हो चुके हैं। इस रोग से मुक्त होने के लिये यह निश्चित आवश्यक है कि मनुष्य अपने साधारण कामों में किसी प्रकार की त्रुटि न होने दे और अपने साधारण कर्तव्य के प्रति पलायनवाद की मनोवृत्ति न रखे। जो व्यक्ति अपने जीवन के सामान्य लड़ाइयों से हतोत्साह हो जाते हैं, जो परिस्थितियों की कठिनाइयों से डरकर भागते हैं वे न तो अपने मानसिक न शारीरिक रोग से मुक्ति पाते हैं, ऐसे व्यक्तियों का आन्तरिक मन किसी न किसी प्रकार के रोग का आवाहन करते रहता है, और जब इन लोगों को कोई कल्पित अथवा वास्तविक रोग सताता है तो वह उन्हें सरलता से नहीं छोड़ता। जबतक रोगी के विचार आशावादी नहीं बनते तब तक उसका

रोग हलका नहीं होता। काम वासना के क्षेत्र में पलायनवाद की मनोवृत्ति के व्यक्ति आत्म-विषय प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते। जो व्यक्ति जीवन के क्षेत्रों में हारकर निराशावादी बन चुके हैं वे चाहे कितनी ही साधनायें क्यों न करें अपने आप पर विजय प्राप्त करने में असफल ही रहेंगे। परीक्षाओं से भागने की मनोवृत्ति जीवन से पलायनवाद का द्योतक है। परीक्षाओं से भागने से मानसिक रोग अनायास ही बढ़ जाते हैं। स्वप्नदोष एक प्रकारका मानसिक रोग है। यदि मानव इसके कारण किसी कामके करने से बी चुराता है अथवा परीक्षाओं से भागता है तो यह रोग और भी बढ़ जाता है। स्वप्नदोष जैसे-जैसे इच्छाशक्ति की दुर्बलता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे जटिल होती जाता है। यदि किसी भी प्रकारके कार्यसे इच्छाशक्ति बलवान हो तो उसका प्रभाव अवश्य ही स्वप्न दोष के निवारण में होता है। अपनी इच्छाशक्ति की दुर्बलता को हटाने का उपाय लिम्बेदारियों से भागना नहीं वरन् उनका सामना करना है। अपनी असफलता की मनोवृत्ति को हटाकर उसके बदले सफलता की मनोवृत्ति लाना है। सफलता की मनोवृत्ति लाने के लिये एक और मनुष्य की अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सतत चेष्टा करनी पड़ती है दूसरी ओर उसे अपनी महत्वाकांक्षाओं को कम करना पड़ता है, इच्छाशक्ति से दुर्बल अर्थात् निकम्मे लोग ही ऐसे आदर्शों की सृष्टि कर लेते हैं जिनका प्राप्त करना उन्हें असम्भव है। फिर इन आदर्शों की प्राप्ति की सम्भावना न देखकर वे प्रयत्न हीनता की शरण ले लेते हैं, इस प्रकार वे अपनी इच्छाशक्ति को और भी दुर्बल बना देते हैं, ऐसे लोगों का मन रोगों का आवाहन करने लगता है, जिससे वे कर्तव्य से मुक्ति पा जायें। जो व्यक्ति आत्म-विषय प्राप्त करना चाहता है और अपने अचेतन में उपस्थित प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करना चाहता है उसके लिये यह आवश्यक है कि वह बाह्य जगत की परीक्षाओं से न भागे। अपनी आकांक्षाओं को हटाना ही बनावे जितना उसके सामर्थ्य के भीतर हो।

उक्त बातचीत को विद्यार्थी ने बड़े गम्भीरतापूर्वक सुना और तुरन्त ही उसने यह प्रश्न किया कि क्या मैं अभी अपनी परीक्षा में फिर से बैठ जाऊँ; अभी केवल दो ही पर्चे मैंने छोड़े हैं। उसे उत्तर दिया गया तुम अपनी अन्तरात्मा की इस आवाज के अनुसार अपना कर्तव्य पूरा करो और परीक्षा समाप्ति के बाद फिर मेरे पास आओ। विद्यार्थी तुरन्त उठा, रेल पकड़ी, घर पहुँचा। शेष विषयों की परीक्षा दी और पुनः वापस आ गया। अब कि बार वह दूसरे प्रकार का व्यक्ति बन चुका था। जो व्यक्ति अपनी बड़ी शर्म व क्लिष्टा के साथ अपनी एक-एक बात कहता था वह तेजी के साथ एक ही सॉफ में अनेक बातें जिनका संबंध उसके जीवन की भावात्मक घटनाओं से था कहने लगा। इस विद्यार्थी को जाते समय पहली बार नई मानसिक चिकित्सा दे दी गई थी। उसने थोड़े ही काल में आद्योपान्त पढ़ डाला था, और उसमें बताये गये प्रयोगों से अपने जीवन की बातों से तुलना भी कर ली थी। वह मानसोपचार की कुंजी को समझ चुका था। उसने अपने समलिंगी प्रेम के अनुभव और सभी प्रकार के व्यभिचार की प्रेरणा के अनुभव कह सुनाये। इन सबको कहने से उसके मन का भार उतर सा गया। यह विद्यार्थी ८ दिन तक ठहरने के लिये आया था लेकिन प्रायः दो ही दिन में उसके विचार इतने आशावादी बन गये कि उसने इतनी देर तक मनोविज्ञानशाला में ठहरना अनावश्यक समझा। उसे अपने मित्रों से मिलने-जुलने के लिये घर भेज दिया गया है।

इस विद्यार्थी को जो बात बताई गई वे मनोविज्ञान की अकारण्य सत्य हैं। मनुष्य जितना ही किसी लज्जास्पद बात को दूसरों से अथवा अपने आप से छिपाता है वह उतना ही अधिक भयानक परिणाम उत्पन्न करता है। इमरसन महाशय का कथन है कि जिस बात को तुम गुप्त कमरे में करते हो वही एक दिन मकान के छत पर से चिल्लाकर बताई जायगी। अतएव अपनी शर्म की बातों को अज्ञात रूपद व्यक्ति

के सामने स्वीकार करने से मनुष्य को हानि नहीं होती अपितु लाभ होता है। यह स्वप्न दोष जैसे भयानक रोगों से युक्त होने की प्रथम आवश्यकता है। इस व्यक्ति को न केवल हस्तमैथुन और समलिंगी व्यवहार के अनुभव हुये, जो सामान्य हैं, वरन् उसे अपनी ही निकट के संबंध की एक युवती के प्रति प्रबल कामोत्सुकता हुई थी और उसके आवेग में आकर उसने कुछ ऐसी चेष्टायें कर डाली थी जिससे उसे भारी आत्म-सन्ताप हुआ था। उसकी ये स्मृतियाँ दमित हो चुकी थी। परन्तु उन्हीं का परिणाम स्वप्नदोष में वह भोग रहा था। इस आत्म-स्वीकृति के पश्चात् देखा गया कि इसमें एक नया उत्साह आ गया। उसने अपनी कमजोरियों को स्वीकार करने में अब हिचकना छोड़ दिया। इस समय उसने अपने जीवन की एक निर्णायक घटना भी कह सुनाई। यह युवक साइंस का विद्यार्थी आई० ए० सी० तक था। जिस नगर में वह रहता है वहाँ डिग्री कक्षाओं को विज्ञान पढ़ाने का उचित प्रबंध नहीं है, अतएव का० वि० वि० में उसने पढ़ने के लिये फीस दे दी। इसी अवसर पर अपने एक मित्र से बात करते समय उसे ज्ञान हुआ कि काशी विश्वविद्यालय की साइंस कक्षा में भर्ती होने के लिये विद्यार्थियों की डाक्टरी परीक्षा होती है और उन्हें कक्षा में नंगा करके देखा जाता है। यह विद्यार्थी अपने आपको नपुंसक मान चुका था। वह इस परीक्षा का नाम सुनकर घबड़ा गया और उसने काशी में साइंस पढ़ने का निश्चय ही छोड़ दिया, फिर अपने ही नगर में जाकर बी० ए० कक्षा में नाम लिखाया।

इस विद्यार्थी की नपुंसकता की धारणा कोरी कल्पना मात्र थी। यह उसे अकारण भय से हो गई थी। इस कल्पना के पीछे वह मानसिक ग्रन्थि कार्य कर रही थी जिसके कारण वह अपने आप को भारी अपराधी अथवा निकम्मा मान चुका था। उक्त ग्रन्थि के समाप्ति के साथ साथ नपुंसकता का डर भी खतम हो गया। उसकी जननेन्द्रिय की भयानक बातें समाप्त हो गईं। वास्तव में इस विद्यार्थी को कोई शारीरिक रोग था ही नहीं उसके स्वप्नदोषों की संख्या प्रायः उतनी थी, जितनी किसी भी अविवाहित नवयुवक की होती है वह शरीर से तगड़ा और सुगठित है। खूब दौड़ सकता है, वह खेल सकता है। व्यायाम भी करता है। परन्तु सबके साथ उसके दृष्टिकोण में भ्रम होने के कारण अपने आप को निकम्मा मान चुका था। सदा भय की भावना में रहने के कारण उसे अकारण चिन्ता, हृदय की बढ़कन, फोष्टबद्धता, सिर की पीड़ा आदि रोग त्रास देने लगे थे। इन्हीं के कारण वह अब परीक्षा से भी जी चुराने लगा था। उसका पैतृक स्वास्थ्य अच्छा था। इसलिये उसे इतनी व्याधियों के होने पर भी कोई जटिल शारीरिक रोग ने न पकड़ा अन्यथा सदा चिन्ता, निराशा, आत्म-भर्त्सना, से पीड़ित व्यक्ति दमा, क्षय, अथवा दूसरे कोई जटिल रोगों के शिकार बन जाते हैं। प्रसन्नता कि बात है कि इस विद्यार्थी की दृष्टि में आमूल परिवर्तन हो गया। उसने समझ लिया कि काम-वासना पर विजय हतास मनोवृत्ति के व्यक्ति नहीं पाते हैं परन्तु सतत उत्साही व्यक्ति पाते हैं। दूसरी बात जो बताई गई कि अपने ही मनोभावों पर विजय प्राप्त करने का, उन्हें शत्रु मानकर दमन करना नहीं है वरन् मित्र मानकर उसकी शक्ति को रचनात्मक कार्य में लगाना है। अपने को कोसनेवाले व्यक्ति अपनी न तो भौतिक उन्नति करते हैं न आध्यात्मिक। काम-वासना के आवेगों की अनुमति उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार क्षुधा की अनुमति स्वाभाविक है इसकी उचित वृत्ति करना अथवा सदुपयोग करना ही सच्ची अनुमति है। जिन लोगों की काम-वासना जितनी प्रबल होती है जब वे अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित कर देते हैं तब वे उतने ही चमत्कारिक कार्य कर दिखाते हैं।

जो सिद्धान्त इस नव युवक को बताये वे ही सिद्धान्त 'नाराज' शब्द की ध्वनि सुननेवाले व्यक्ति को भी बताये गये। वह रोगी भी उसी प्रकार महत्वाकांक्षी, अत्युच्च आदर्शों को धारण करता है जिस

प्रकार पहला नवयुवक है। जब मनुष्य के नैतिक आदर्श बहुत ऊँचे होते हैं और उनके अनुसार चलने की क्षमता उनमें नहीं रहती तो उसे अपने आपको भुलाने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। वह फिर आदर्श के प्रतिकूल किये गये आचरण की स्मृतियों का दमन करता है। इससे उसमें मानसिक विभाजन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फिर उसका एक स्वत्व दूसरे स्वत्व की उसके अनजाने ही भर्त्सना करता रहता है। मनुष्य इस भर्त्सना की क्रिया को नहीं पहचान पाता, वह उसके परिणाम मात्र को किसी ऐसे रोग के रूप में देखता है जिसका कारण न डाक्टर समझ पाता है न रोगी।

जब मनुष्य अकारण ही किसी विशेष प्रकार की ध्वनि सुने अथवा किसी विशेष प्रकार के बाध्य विचार से पीड़ित हो तो हमें समझना चाहिये कि इस ध्वनि का कारण उसके किसी ऐसी अतीत काल की अनुमति में है जिसके लिये उसकी अंतरात्मा उसे दण्ड देना चाहती है। इस रोगी की अंतरात्मा उसके किसी काम कृत्य से नाराज हो गई थी। वह उस घटना को मूल चुका था—अब अंतरात्मा की नाराजगी के भावने एक ऐसी ध्वनि का रूप लेलिया था जो रोगी के हटाने नहीं हटती थी। कभी कभी ऐसे रोगी को अपने आस पास चारों ओर गंदा ही गंदा दिखाई देता है। कोई कोई रोगी साधारण ही गन्दगी में मैले का सन्देह करने लगता है। कई एक रोगी शौच के बाद आधा घंटे तक हाथ साफ करते हैं परन्तु फिर भी गन्दे ही लगते हैं। कितने ही रोगी व्यक्तियों को घर की वस्तुओं को इधर उधर हो जाने पर बेहद परेशानी हो जाती है वे सभी बातों में अव्यवस्था ही देखने लगते हैं। इस प्रकार की परेशानी का कारण मनुष्य के अन्तर मन में उपस्थित गन्दगी की भावना, अव्यवस्था अथवा नाराजगी में रहता है। बाहरी परिस्थिति पर ये भाव आरोपित हो जाते हैं। जिससे कि मनुष्य अपने मन की वस्तुस्थिति को नहीं पहचानता है वह अपनी परेशानी का कारण अपने आप को न जान कर किसी बाहरी पदार्थ पर आरोपण कर सकता है।

उपर्युक्त प्रकार के मानसिक रोगियों की चिकित्सा उनका जीवन के प्रति मूल्यों में परिवर्तन करने से सरलता से हो जाती है। जब मनुष्य का अपनी नैतिकता के विषय में अहंकार अत्यधिक बढ़ा रहता है तब उसे जीवन की छोटी छोटी सी घटनायें बेहद त्रास देने लगती हैं। मनुष्य अपने अहंकार को छोड़ना नहीं चाहता, अतएव नैतिकता के प्रतिकूल किये गये आचरण को वह स्मरण न रख कर उसे भुलाने की चेष्टा करता है। वह बार बार इस प्रकार की चेष्टा करने से उन कृत्यों को मूल जाता है जिसे आत्म ग्लानि हुई। फिर उसके दबे हुये आत्म ग्लानि के भाव किसी ऐसे नगण्य घटना पर अथवा पदार्थ पर समय समय पर आरोपित हो जाते हैं जिनमें और पुरानी आत्म ग्लानि पैदा करने वाली घटना में समानता रहती है। यदि किसी व्यक्ति ने किसी अकेले स्थान में उसीके द्वारा मानी हुई नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करके आत्म ग्लानि की अनुभूति की है और इसके कारण उसकी पुरानी घटना की स्मृति का दमन हो गया है तो वह कभी कभी अकारण ही अकेले रह जाने पर एक ऐसे भय का अनुभव करेगा जिसका न कारण उसके समझ में आयेगा न दूसरे ही पा सकेंगे। ऐसे व्यक्ति का जीवन एक ओर बड़े उच्च स्तर का होता है दूसरी ओर उसे मानसिक परेशानी भी रहती है। कभी कभी ऐसे व्यक्ति को अकारण ही हृदय की धड़कन होने लगती है, यह धड़कन उसके अनजाने ऐसी वासना की उत्तेजना से हो उठती है जिसे उसकी नैतिक बुद्धि अपना शत्रु मान चुकी है और जिसके चेतना के स्तर पर आने पर हानि पहुँचने की सम्भावना बनी रहती है। जब ऐसे व्यक्ति का अपने हेतु समझे जानेवाले भावों के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित किया जाता है तो उनका रोग सब समय के लिये समाप्त हो जाता है। इस प्रकार के रोग की समाप्ति के लिये रोगी के प्रति अत्यन्त धनियता दिखाकर उसे प्रोत्साहित

किया जाता है ताकि वह अपनी किसी लज्जास्पद बात को स्मृति पटल के नीचे दबाये न रखने के बदले उसकी आत्म स्वीकृति करे और उस अनुभव को अकल्याणकारी न मानकर कल्याणकारी माने। सत्पुरुष वह है जो जीवन की सभी घटनाओं में अनुकूलता देखता है। सभी पुरुषों में भला और सभी वस्तुओं में सौंदर्य देखता है। वास्तव में मनुष्य अपने दृष्टि बिन्दु से ही अपने वातावरण का और अपने संसार का निर्माण करता है। जिस व्यक्ति का अपने जीवन की बातों के प्रति उचित दृष्टिकोण है वही अपना तथा दूसरों का सच्चा लाभ कर सकता है और जिसका दृष्टिकोण गलत है उसे न केवल समाज का ही अहित होता है वरन् अपने आप का भी अहित होता है। अपने आप को कोसने वाला व्यक्ति कभी भी किसी प्रकार की महानता प्राप्त नहीं करता। इस कोसने का कारण मनुष्य की महत्वाकांक्षा में रहता है। यदि मनुष्य अपनी आकांक्षाओं और अपनी योग्यता में समतुलन रखे तो उसे न नैतिक क्षेत्र में न भौतिक क्षेत्र में अपने आप को कोसने की आवश्यकता पड़े। ऐसे व्यक्ति को वे मानसिक रोग नहीं होते जो असाधारण महत्वाकांक्षी को होते हैं ऐसे व्यक्ति की शक्तियाँ रचनात्मक कार्य में लगी रहती हैं। सदा सफलता की मनोवृत्ति से ओत प्रोत व्यक्ति वहाँ जाता है नर-नारियों में सफलता और प्रसन्नता की मनोभावनाओं का जागरण करता है ऐसे व्यक्ति के दर्शन मात्रसे उसके क्षणिक बातचीत से समाज के दूसरे लोगों को अकथनीय लाभ होता है। जिस समाज में आशावादी व्यक्तियों का बहुल्य है वह समाज धन्य है।

उपर्युक्त नवयुवक से जो बात चीत हुई उससे उसके जीवन का दृष्टि बिन्दु परिवर्तित हो गया। उसे भी अपने जीवन की समष्टि भावात्मक घटनाओं को कह सुनाया। दोनों एक साथ ही शाला में ठहरे थे। उन दोनों का आपस में विचारों का आदान प्रदान हुआ, इससे भी दोनों को भारी लाभ हुआ। मनोविज्ञानशाला के दो एक कार्यकर्ताओं ने उनके उपचार में भारी सहायता की। ये लोग भी ऐसे ही रोगों से पीड़ित रह चुके थे जैसे उपर्युक्त दोनों थे। इनकी सफलता और आदर्श वादिता ने एक संजीवनी का कार्य किया और इसके कारण जो लोग किसी भारी शारीरिक अवस्था मानसिक रोग की तैयारी कर रहे थे सदा के लिये व्याधियों से मुक्त होकर एक दिन में आशावादी विचार लेकर अपने अपने घर चले गये। यह निश्चित है कि जैसे जैसे वे इस इस दृष्टि बिन्दु को ध्यान में रखकर अपनी साधारण क्रियायें करेंगे वह केवल अपने लिये नहीं वरन् सभी के लिये कल्याणकारी मार्ग का अन्वेषण कर लेंगे और समाज को कोई अलौकिक देन देंगे।

शारीरिक रोगों के मानसिक कारण

(श्री योगेन्द्रनाथ मिश्र)

मनोवैज्ञानिक क्षेत्रों में ये बात बहुत दिनों से ज्ञात है कि मानसिक गड़बड़ी अनेकों शारीरिक व्याधियों को पैदा करती है। ये व्याधियाँ साधारण अवस्था में मानसिक चिकित्सा के अन्तर्गत आ जाती है; परन्तु साधारण स्थिति में मानसिक चिकित्सा अक्सर असफल हो जाती है। शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान के बीच आज कोई निश्चित रेखा खींचना असंभव है क्योंकि बहुत से मानसिक रोगों में शारीरिक चिकित्सा आवश्यक हो जाती है। विशेषतः मस्तिष्क की बनावट संबंधी रोगों में शल्य चिकित्सा आवश्यक हो जाती है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि कितने रोग मानसिक हैं और कितने शारीरिक। यों भी हमारा साधारण अनुभव है कि अनेक शारीरिक रोग मानसिक रोगों के कारण बन जाते हैं और इसी प्रकार से मानसिक रोग शारीरिक रोगों को पैदा कर देते हैं। इसलिये मनोविज्ञान में कुछ दिनों से एक नई शाखा विकसित हुई है जिसे साइकोसोमेटिक कहते हैं। साइको का अर्थ मानस और सोमा का अर्थ शरीर है। इस प्रकार मानस-चिकित्सा के अन्तर्गत वे सभी रोग आ जाते हैं जिनका कारण प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मानसिक और शारीरिक होता है।

कुछ शारीरिक प्रभाव—वैज्ञानिक प्रयोगों से इस वास्तविकता का पता चला है कि बहुत सी मानसिक गड़बड़ी किन्हीं निश्चित रासायनिक प्रतिमाओं को पैदा करती है। रासायनिक औषतों की सिकुड़न विशेषतया भय, निराशा, उच्छेजना आदि मानसिक गड़बड़ों के कारण पैदा होती है। बद्धकोष (कास्टीपेसन) का कारण भी यही है। इस व्याधि को केवल जुलाव आदि से दूर करना मुश्किल हो जाता है। यहाँ तक कि काफ़ी पुराने बद्धकोष भी केवल औषधिक उपचार से नहीं दूर होते। बद्धकोष से पीड़ित व्यक्ति मानसिक चिकित्सा से पूर्णतया स्वस्थ हो जाते हैं।

मूर्तों से भय खाने वाला एक व्यक्ति जिसे अपने चारों ओर हर समय पाखाना टट्टी दिखाई पड़ती थी, ऐसी ही मानसिक व्याधि से पीड़ित है। यह व्यक्ति अपने से ही उदासीन था और इस उदासीनता ने उसकी औँतों को बड़ा कमबोर बना दिया था। टट्टी जाने में उसे घंटों लगते थे और बाद को अक्सर उसे टट्टी होती ही नहीं थी। यह रोगी बवासीर से भी पीड़ित था। मानसिक चिकित्सा के समय उसकी आत्म-खानि दूर हो जाने पर इस व्यक्ति को स्वास्थ्य लाभ हुआ।

मानसिक गड़बड़ी शरीर में आक्सीजन की मात्रा का उपयोग बढ़ा देती है। यह बात वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा देखी जा चुकी है कि उच्छेजक भय और खानि की अवस्था में शरीर में आक्सीजन का उपयोग ४ प्रतिशत से २५ प्रतिशत तक बढ़ जाता है। चौदह आदमियों में से छे आदमियों में यह बात सही निकली। शेष लोगों में मानसिक गड़बड़ी नाम मात्र की ही हुई। हतोत्साह की स्थिति में आक्सीजन की मात्रा साधारण उपयोग से भी कम हो जाती है। अतएव हम कह सकते हैं कि मानसिक गड़बड़ी का शरीर में उपयुक्त होने वाली आक्सीजन से गहरा संबंध है। इस बात को हम उत्साहपूर्ण स्थिति और हतोत्साहपूर्ण स्थिति में अच्छी तरह अनुभव कर सकते हैं। हतोत्साहपूर्ण अवस्था में कभी-कभी मरने की स्थिति पैदा हो जाती है। प्रेम में असफलता, परीक्षा में अनुत्तीर्ण होना, व्यापार में हानि होने में अक्सर व्यक्ति की मृत्यु तक हो जाती है।

मानसिक गड़बड़ी का यह प्रभाव रक्त के अनुपात पर भी बहुत पड़ता है। हर व्यक्ति के रक्त में

श्वेत और लाल रक्त कणों का अनुपात एक निश्चित मात्रा में होता है। यह अनुपात बदलने पर शारीरिक अवस्था में गंभीर परिवर्तन पैदा होता है। मानसिक गड़बड़ शरीर के रक्त के इस अनुपात को बदलती है। यह देखा गया है कि भय पैदा होने के सात मिनट के भीतर श्वेत रक्त कणों की संख्या में २५ प्रतिशत वृद्धि हो जाती है और यदि भय को निरन्तर जारी न रखा जाय तो ३० मिनट के अन्दर श्वेत रक्त कणों की संख्या साधारण स्थिति में आ जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि रक्त में श्वेत और लाल रक्त कणों का एक निश्चित अनुपात होता है। अतः स्वाभाविक है कि लाल रक्त कणों की संख्या में किसी प्रकार का परिवर्तन श्वेत कणों की संख्या पर प्रभाव डालेगा क्योंकि श्वेत कण बाहरी रोगों के कीटाणुओं से शरीर की रक्षा करता है। अभी हाल के प्रयोगों से पता चला है कि मानसिक उत्तेजना रक्त में चर्बी की मात्रा को बढ़ा देते हैं क्योंकि शक्कर की भौति चर्बी भी पेशियों के लिये ईंधन का काम करती है और उत्तेजना की अवस्था में ईंधन की बहुत आवश्यकता होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक गड़बड़ रक्त के रासायनिक बनावट में निश्चित परिवर्तन पैदा कर देता है। चूँकि रक्त में परिवर्तन होना शारीरिक अवस्था में परिवर्तन पैदा करता है इस प्रकार मानसिक गड़बड़ी से हम अन्य शारीरिक प्रतिक्रियाओं की आशा कर सकते हैं। मनोदशा, मानसिक स्वभाव भी इस रक्तानुपात के विश्लेषण से मालूम किये जा सकते हैं। व्यक्तियों के रक्त के अनुपात का अध्ययन उनके शारीरिक रोगों और संवेगात्मक प्रतिक्रिया को बता सकता है।

ऊपर के विश्लेषण से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मानसिक गड़बड़ी शारीरिक रोगों को जन्म देती है। अतएव शारीरिक रोगों की चिकित्सा से पहिले व्यक्ति की मानसिक चिकित्सा होनी चाहिए क्योंकि इसमें शारीरिक व्याधियों की जड़ मूलतः मानसिक गड़बड़ी में होती है। बहुत से व्यक्तियों को वास्तविक शारीरिक रोग नहीं होता, उनके मन में आत्म-ग्लानि के भाव भरे रहते हैं। जब इन भावों का दमन हो जाता है तो उन्हें चिन्ता और भय उत्पन्न हो जाते हैं। यह भय की अवस्था उनके रक्त-संचार और पाचन क्रिया को प्रभावित करती है। भय के मनोभाव से प्रभावित व्यक्ति अनेक प्रकार की निराशात्मक कल्पनायें मन में लाते रहता है। इन कल्पनाओं के कारण वह किसी भी रचनात्मक कार्य में मन नहीं लगा पाता। मनुष्य की निराशात्मक कल्पनायें न केवल उसका मानसिक विकास रोक देती हैं बल्कि उसका शारीरिक विकास को भी रोक देती हैं। फिर ऐसा व्यक्ति अपने शरीर में अनेक प्रकार के रोगों की कल्पना करने लगता है। इन कल्पनाओं को बार-बार मन में लाने से वास्तव में वही रोग हो जाता है जिसे वास्तव में वह कल्पना करता है। चय रोग और हृदय की पड़कन से पीड़ित व्यक्तियों की पहले कल्पनायें निराशात्मक होती हैं पीछे उन्हें ये रोग बटिलता से पकड़ लेते हैं। कितने ही वास्तविक अत्यन्त कल्पित अथ रोग से पीड़ित व्यक्तियों के मन में किसी प्रकार की पाप की भावना छिपी रहती है। उनका आन्तरिक मन उन्हें किसी काम के लिये दोषी समझता है। जब मनोविश्लेषण के द्वारा व्यक्ति के इस मानसिक ग्रन्थि का निराकरण हो जाता है तो उसकी आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति और तज्जनित अकारण भय का कारण नष्ट हो जाता है। फिर ऐसे व्यक्ति की कल्पनायें रचनात्मक हो जाती हैं। रचनात्मक कल्पनायें आनन्दवर्द्धक होती हैं, इसी से रोग नष्ट हो जाता है यदि किसी रोगी से शान्त भावना का अभ्यास प्रतिदिन कराया जाय, यदि उसे सदा प्रसन्न वातावरण में रक्खा जाय, यदि उसे रचनात्मक कार्यों के आनन्द की अनुभूति हो।

कविता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

प्रसिद्ध अंग्रेजी इतिहासकार और आलोचक मेकाले का कथन है कि जैसे जैसे सभ्यता प्रगति करती जाती है कविता और कला का ह्रास होता जाता है। आधुनिक परिस्थितियों को देखते हुए ऊपरी दृष्टि से यह कथन बिल्कुल सत्य मालूम पड़ता है। संसार के समस्त साहित्यों में इस समय कविता हासोमुखा अवस्थाही में है और साहित्य की शक्ति से अनभिन्न लोगों की तो यह धारणा ही बनती जा रही है कि जिस प्रकार विज्ञानकी प्रगति के साथ ही साथ अन्य विश्वास और आधारहीन धर्मों का ह्रास होता जाता है उसी प्रकार वैज्ञानिक उन्नति कविता और कला का भी अन्त कर देगी, किन्तु इस धारणा के पीछे कोई ठोस तथ्य नहीं है। कविताका जन्म हमारी विशेष मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही हुआ। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कविता, धर्म और दर्शन मानव जीवन के एक विशिष्ट अंग से संबंधित हैं जिसका विकास केवल तर्क और बुद्धि के विकास के सहारे ही नहीं हो सकता। हम अपनी मानसिक क्रियाओंको चार प्रमुख भागों में बाँट सकते हैं, १—संवेदनात्मक, २—बौद्धिक, ३—संवेगात्मक और ४—अन्तःप्रेरणात्मक। विज्ञान का संबंध पहली दो प्रकार की मानसिक क्रियाओं से ही होता है। वैज्ञानिक सामान्य संवेदनाओं के द्वारा अर्जित ज्ञान का बुद्धि के द्वारा विश्लेषण करता है और एक निश्चित भौतिक तथ्य पर पहुँचने की चेष्टा करता है; किन्तु संवेदनाओं और बौद्धिक प्रक्रियाओं का क्षेत्र हमारे चेतन मन तक ही सीमित है। यही कारण है कि विज्ञान की प्रगति के साथ साथ हमारी बुद्धि और चेतना का तो विकास हुआ किन्तु भावात्मक और संवेगात्मक रूप से हम अविश्रुत ही रह गये। इस एकांगी मानसिक विकास ने हमें सच्ची प्रगति की ओर न ले जाकर महानाश के सम्मुख ही ला खड़ा किया। हमारे भावों और संवेगों का संबंध हमारे चेतन मन की अपेक्षा अचेतन से अधिक है। व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए चेतन मन के साथ अचेतन मन में निहित मानसिक शक्तियों के विकास की भी आवश्यकता होती है। कविता और कला का संबंध हमारी इन्हीं मानसिक शक्तियों से है। प्रोफेसर चार्ल्सयुंग ने कविता को अचेतन की भाषा कहा है। संगीत के समान कविता भी सौन्दर्यात्मक आनन्द की अनुभूति कराती है।

इस अनुभूति के आधार पर अचेतन रूप से हमारे भावों का समन्वय होता है। हम किसी कविता से उतना ही अधिक प्रभावित होते हैं जितना वह हमें मानसिक समन्वय की ओर ले जाती है। प्रत्येक प्रकार की उच्चकोटि की कला चाहे वह साहित्यिक हो अथवा शिल्पी, प्रतीकात्मक होती है। जिस प्रकार हमारे सामान्य विचार हमारे चेतन मन की अभिव्यक्ति होते हैं उसी प्रकार प्रत्येक प्रकार की उच्च कला में हमारे अचेतन मन की अभिव्यक्ति होती है। अचेतन मन के प्रतीक चेतन प्रतीकों से भिन्न होते हैं। उनका आधार गहनतम अनुभूति और व्यापक संवेदना होती है। अचेतन मन के प्रतीक देशकाल से परे होते हैं। चेतन मन के प्रतीक सामयिक, सकुचित और अस्थिर होते हैं। प्रत्येक महान् काव्यकृति का सबसे बड़ा गुण उसका देशकाल से परे व्यापक प्रभाव है। कालिदास, गेटे और शेकेस्पीयर की काव्यकृतियों शताब्दियों पुरानी हैं फिर भी उनका प्रभाव प्रत्येक युग में हम सजीव और अभिनव ही पाते हैं। सामान्य कविता में अचेतन के प्रतीकों का समुचित समन्वय नहीं हो पाता है, अतः उससे उत्पन्न होनेवाला सौन्दर्यात्मक आनन्द क्षणिक और उसका प्रभाव सामयिक और सीमित होता है।

कविता के प्रति वर्तमान उदासीनता का प्रमुख कारण हमारा उसके प्रति अमनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। सभ्यता को निरंतर विकासशील बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि हमारे चेतन मन के विकास के साथ साथ अचेतन मन के साथ उसका साम्य बिगड़ने न पावे। इस प्रकार के साम्य को प्राप्त करने

के लिए आवश्यक है कि कविता का अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया जाय और उन मानसिक आवश्यकताओं को भली प्रकार समझा जाय जिनकी पूर्ति के लिए कविता और कला के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई साधन नहीं।

काव्य-रचना उच्चतमकोटि की रचनात्मक मानसिक प्रक्रिया है। जिस प्रकार अन्य मानसिक प्रक्रियायें प्रायः हमारे चेतन मन से ही संबंधित होती हैं और मानसिक समन्वय की क्रमिक पूर्णता के साथ वे धीरे धीरे अचेतन से संबंधित होती जाती हैं और अन्त में महानतम लोक-हितकारी विचारों का सूचन करती हैं उसी प्रकार प्रत्येक कवि की काव्य चेतना का विकास भी क्रमिक होता है। इस दृष्टि से मानसिक क्रियाओं की ही भाँति कविता को भी चार विभिन्न मनोवैज्ञानिक श्रेणियों में रख सकते हैं—

१—संवेदनात्मक कविताएँ वे कविताएँ हैं जिनका आधार भौतिक संवेदना मात्र और किशोर कल्पना मात्र होती है। इस प्रकार की कविताओं में हमें इन्द्रियता और व्यक्तिगत रोमान्टिक भावनाओं का प्रकाशन मात्र होता है। अधिकांश कविताएँ इसी कोटि की होती हैं। अंग्रेजी कवि [रासेटी] इसी कोटि का कवि था। प्रसिद्ध रोमाण्टिक कवि कीट्स और शेली की कुछ कविताएँ भी इसी श्रेणी में आती हैं। हिन्दी में पन्त का पूरा पल्लव केवल 'परिवर्तन' और 'मौन निमंत्रण' नाम की कविता को छोड़कर इसी कोटि का है। २—दूसरे प्रकार की कविताएँ बौद्धिक कविताएँ हैं। यह कवि की काव्य चेतना के अपने सीमित अहं से व्यापक स्वत्व की ओर विकास के द्वितीय चरण की द्योतक होती है। प्रसिद्ध अंग्रेजी समालोचक मैथ्यू आर्नोल्ड की जीवन की आलोचना के रूप में कविता की परिभाषा इसी प्रकार की कविता के लिए उपयुक्त है। मनुष्य की बौद्धिक चेतना उसकी ऐन्द्रिक चेतना से उच्चतर कोटि की होती है। मैथ्यू आर्नोल्ड वर्ड्सवर्थ का प्रोत्युड और पंत का स्वर्णकिरण और उत्तरा की कविताएँ इसी कोटि की हैं। ३—तीसरे प्रकार की कविताएँ संवेगात्मक कविताएँ हैं। इस प्रकार की कविताओं में इन्द्रिय संवेदनाओं जैसे सामान्य पशु-पक्षियों और फूल-पत्तों की भौतिक सुन्दरता के वर्णन और व्यक्तिगत सुख की इच्छाओं से संबंधित संवेगों की अभिव्यक्ति को एक व्यापक स्वत्व मिलता है। इस श्रेणी से ही उच्चकोटि की कविता का प्रारम्भ होता है। कविता में उच्चतम मूल्यों की दृष्टि से कोई भी रचना उस उभय तरफ पूर्ण कला का रूप नहीं ले सकती, जब तक कि उसमें अभिव्यक्ति सूक्ष्म और कोमल अनुभूतियों का व्यक्ति के सीमित स्वत्व की अपेक्षा व्यापक स्वत्व से संबंध न हो। विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों तो सभी को होती हैं, किन्तु जहाँ सामान्य लोग इन अनुभूतियों को केवल अपने ही व्यक्तित्व से संबंधित रखते हैं, एक महान् कवि की कल्पना इन अनुभूतियों और संवेदनाओं को एक व्यापक स्वत्व प्रदान करती है। प्रथम दो प्रकार की कविताओं में व्यक्त कल्पना स्थूल कल्पना होती है। व्यक्तिगत अनुभूतियों को व्यापक स्वत्व प्रदान करने के लिए सूक्ष्मतर कल्पना की आवश्यकता होती है। अन्तिम दो प्रकार की कविताओं में इसी प्रकार की कल्पना की प्रधानता होती है। तीसरे प्रकार की कविता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व की है।

चौथे प्रकार की कविता को हम अन्तःप्रेरणात्मक कह सकते हैं। संसार की महानतम काव्यकृतियों का अधिकांश भाग अन्तःप्रेरणात्मक ही है। इस प्रकार की कविता पूर्ण रूप से समन्वित अचेतन मन की अभिव्यक्ति होती है। अन्तिम दो प्रकार की कविताओं के उदाहरण अंग्रेजी में शेली के 'स्काइलाक', संसार के महाकाव्य, शेक्सपीयर के नाटक हैं। संस्कृत में शकुन्तला के अधिकांश काव्यात्मक अंश और हिन्दी में कबीर के कुछ पद, पंत का मौन निमंत्रण, प्रसाद और महादेवी की अधिकांश कविताएँ आती हैं।

सफल अध्ययन की मनोवैज्ञानिक विधि

सफल अध्ययन वही व्यक्ति कर सकता है जिसने अपने मन के ऊपर काबू प्राप्त किया है। अध्ययन करने में दो प्रकार की कठिनाइयों का विद्यार्थियों को सामना करना पड़ता है पुस्तक पढ़ने की और पढ़े पाठ को याद रखने की। सामान्यतः पुस्तक पढ़ते समय पुस्तक के विचारों पर चिन्त एकाग्र न होकर वह इधर-उधर भागता है। कभी पुस्तक हाथ में रहती है, पुस्तक के शब्दों पर बहिर रहती है और मन कहीं दूसरी जगह ही रहता है। कभी-कभी हम पुस्तक को पढ़ते जाते हैं, पर हमें मालूम होता है कि हम उसका अर्थ समझ रहे हैं, परन्तु कुछ देर के बाद देखते हैं कि हम कहीं के कहीं चले गये। जब हम पुस्तक को पढ़ रहे थे उसी समय मन का एक भाग दूसरा ही काम कर रहा था। इस प्रकार की मनोदशा की प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी समय अनुभूति होती है। मन के इस प्रकार के विभाजन का एक उदाहरण विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकालाजी' में दिया है। एक प्रोफेसर अपनी कक्षा में एक दार्शनिक विषय पर भाषण दे रहा था। इसी बीच उसके मन का एक भाग किसी एक टी० पार्टी में दौड़ गया। उसने इस पार्टी में शामिल होकर अपने मित्रों से अनेक प्रकार की बातचीत की। इस तरह वह पाँच-सात मिनट तक मन की विभाजित अवस्था में रह आया। जब उसके मन का एक भाग टी० पार्टी के अनुभव में लगा हुआ था उस समय मन का दूसरा भाग लेक्चर दे रहा था। अकस्मात् मन का पहला भाग भी जो कुछ वह कह रहा था उसके प्रति वह सचेत हो गया। इस समय उसे ज्ञात हुआ कि उसके विचारों का क्रम ठीक ढंग से चल रहा है।

वास्तव में चिन्त की एकाग्रता एक सापेक्ष वस्तु है। किसी मनुष्य का चिन्त कभी कभी ही सम्पूर्ण रूप से एकाग्र होता है। जब हमारे मन के केन्द्रीय भाग पर एक बात रहती है उसी समय मन के आस पास के भागों में और अनेक प्रकार की घटनाएँ होती रहती हैं। जब हम आस-पास की घटनाओं में अधिक रुचि लेने लगते हैं तब हम चिन्त एकाग्र न होने का अनुभव करते हैं। जो विद्यार्थी जितना ही अधिक चिन्त के विभिन्न भागों को कुछ समय के लिए एक जगह पर समेट लेता है वह अपने अध्ययन में उतना ही सफल होता है। चिन्त जितना ही अधिक एकाग्र होगा मनुष्य के मस्तिष्क पर पठित विषय के उतने ही गहरे संस्कार पड़ेंगे और जितने ही गहरे संस्कार किसी ज्ञान के मनुष्य में रहेंगे उतने ही देर तक वह स्मरण रहेगा।

चिन्त को एकाग्र करने के लिए मनुष्य को सम्पूर्ण रूप से सचेष्ट होना पड़ता है। वे ही लोग

कविता का प्रभाव हमारे मन पर दो प्रकार से पड़ता है प्रथम तो कविता में व्यक्त अनुभूतियाँ हमारे मनमें भी उन्हीं भावों को जगा देती हैं, जिनका अनुभव स्वयं कवि ने किया दूसरी ओर कविता हमें मानसिक समन्वय की ओर ले जाती है। पहली प्रक्रिया एक महत्वपूर्ण मानसिक प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कविता की रचना और पठन पाठन दोनों से ही हमारे दमित संवेगों और अनुभूतियों का रेचन होता है। फ्रायड महाशय के अनुसार कविता में अनुभूतियाँ प्रतीकात्मक रूप से हमारी दमित वासनाओं और संवेगों की अभिव्यक्ति होती हैं। अतएव कविता एक ओर तो कवि की दमित भावनाओं और संवेगों का रेचन करती है और दूसरी ओर पाठकों के मन को प्रभावित कर उनके भी प्रसृत या दमित मनोभावों को पुनः प्रकट कर प्रतीक रूप से संतुष्ट करती है।

(श्री रमेशचन्द्र शुक्ल)

अपनी पढ़ाई से अधिक से अधिक लाभ उठाते हैं जो पढ़ने के काम में अधिक मानसिक शक्ति को खर्च करते हैं। जो व्यक्ति ढीले ढाले होकर किसी पुस्तक का अध्ययन करते हैं उन्हें पुस्तक की बातें कुछ समय तक याद रह कर पीछे मूल जाती हैं। हम पढ़ने के काम को जितना ही किया से संबंधित करते हैं वह उतना ही अधिक स्थायी रहता है। छोटे बच्चों के लिए किसी पाठ को स्मरण रखने के लिए यह आवश्यक है कि वे उसे जोर जोर से पढ़ें। गुनगुनाते हुए धीरे धीरे मन में न पढ़ें। बच्चों को पढ़ाते समय उनसे जितना ही अधिक बोलवाया जाता है अथवा लिखवाया जाता है उन्हें पाठ उतना ही अधिक स्मरण रहता है।

ऊँची कक्षा के विद्यार्थी सब समय बोलकर नहीं पढ़ सकते और न वे लिखकर ही पढ़ाई के संस्कार स्थिर कर सकते हैं। ऊँची कक्षा में थोड़े ही समय में बहुत से विचारों को ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। अतएव बोलकर पढ़ना अथवा लिखकर विषय याद करना कठिन होता है। इन कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए यह आवश्यक है कि वे पुस्तक को पढ़ते समय एक पेंसिल हाथ में रखें और पठित विचारों में जो महत्व के हैं उनके नीचे निशान लगावें, पूरे पैराग्राफ अथवा पृष्ठ के पढ़ लेने पर इन महत्व के विचारों की गिनती कर लें और फिर यह जानने की चेष्टा करें कि वे किस सिद्धान्त के अंग बन सकते हैं। पुस्तक के महत्व के विचारों की खोज करने में मनुष्य को भारी मानसिक परिश्रम पड़ता है। उसे सभी विचारों की छानबीन करनी पड़ती है। इस प्रकार की छानबीन के कारण विद्यार्थी के मस्तिष्क पर न केवल महत्व के विचार के बल्कि दूसरे विचारों के भी संस्कार दृढ़ हो जाते हैं। फिर यदि कोई विद्यार्थी एक पुस्तक में उपस्थित विचारों की तुलना दूसरे पुस्तक के समान विचारों से करे तो उसे और भी अधिक लाभ हो। इस प्रकार एक विचार का दूसरे विचार से संबंध हो जाता है और वह फिर मली प्रकार से मस्तिष्क में पड़ जाता है।

विलियम जेम्स महाशय का कथन है कि स्मरण शक्ति के बढ़ाने का एक मात्र रहस्य उस विषय पर सोचना है जिसे हम स्मरण रखना चाहते हैं। जिस बात पर हम जितना ही अधिक सोचते हैं वह हमें उतनी ही अधिक याद रहती है। हम सभी का अनुभव है कि पुस्तक की पढ़ी बात तो हम जल्दी से भूल जाते हैं परन्तु यदि किसी व्यक्ति ने हमारी निन्दा की है, हमें गाली दी है, अथवा किसी प्रकार की हमें हानि पहुँचाई है तो हम उसे जल्दी नहीं भूलते हैं। इसका कारण यह है कि हम पुस्तक की बात पर बार बार नहीं सोचते और अपने सम्मान से सम्बन्ध रखनेवाली बात को बार बार सोचते हैं। यदि हम पुस्तक की लिखी बात को उतनी ही बार सोचें जितनी बार हम दुःखद अथवा सुखद घटनाओं को सोचते हैं तो वे भी देर तक स्मरण रहें। बहुत से विद्यार्थियों को अपनी पढ़ाई में रस नहीं मिलता। रसाभाव के कारण उनका मन पठित विषय से भागता रहता है। पढ़ाई के विषय को रसयुक्त बनाना भी उसको स्मरण रखने का उपाय है। मनुष्य का मन एक भौरे के समान है। जिस फूल में वह मिटास देखता है उसी की ओर वह जाता है। जब विद्यार्थी अपने पाठ्य विषय को अथवा ज्ञान को अत्यन्त हितकर पहचानने लगेगा तो उसका मन अपने आपही उसमें चला जायगा। कभी कभी हमारा बाहरी मन पठित विषय की उपयोगिता पहचानता है, परन्तु आन्तरिक मन उससे घृणा करता है, अथवा उसकी उपयोगिता नहीं पहचानता ऐसी अवस्था में भी पठित विषय स्मरण नहीं रहता, वास्तव में ऐसे विषय पर मन एकाग्र ही नहीं होता।

जब विद्यार्थियों को मार पीट कर किसी विषय को पढ़ाया जाता है तो वे मन्द बुद्धि के हो जाते हैं। ऐसे विषय के प्रति बालक का आन्तरिक मन घृणा करने लगता है, फिर वह विद्यार्थी जितना

ही उस विषय को याद करने की चेष्टा करता है उसे वह विषय उतना ही मूलता है। अभी हाल की बात है कि मनोविज्ञान शाला में एक प्रखर बुद्धि का विद्यार्थी आया। इसे हफलाने का रोग था। इसके जीवन का अध्ययन करने से पता चला कि उसे अंग्रेजी याद नहीं होती। वह इतिहास भूगोल, विचारकरी, गणित आदि में ठीक है। उसकी जीवनी के अध्ययन से पता चला कि उसे अपने पिता से उचित स्नेह नहीं मिला। स्नेहाभाव के कारण उसके मन में पिता के प्रति भारी असन्तोष का भाव है। उसके पिता ने ही उसे अंग्रेजी प्रारम्भ में पढ़ाई और अंग्रेजी पढ़ाते समय उसे काफी डाँट फटकार सुननी पड़ी। पिता की डाँट फटकार से लड़के को एक ओर हफलापन आ गया और दूसरी ओर उसे अंग्रेजी शब्द याद न रहने लगे। जिस बात का सम्बन्ध हमारे अपमान से हो जाता है उसे हमारा मन विस्मरण करने की ही चेष्टा करता है। यदि हम बालकों को किसी बात को देर तक स्मरण रखना चाहते हैं तो प्रिय बना कर उनके सामने लाना होगा। यदि हम स्वयं किसी बात को स्मरण रखना चाहते हैं तो बार बार इस बात पर चिन्तन करना होगा कि वह कहीं तक हमारे हित की है।

अध्ययन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि हम दूसरे लोगों के विचारों को हर समय मस्तिष्क में न आने दें। जो लोग सदा पुस्तक पढ़ने में लगे रहते हैं और उनमें कहे गये विचारों पर चिन्तन और मनन नहीं करते वे कुछ ही दिनों में अपनी बुद्धि की प्रखरता और प्रतिभा को खो देते हैं। जिस प्रकार किसी श्यामपट पर बार बार लिखते रहने से श्यामपट के शब्द एक दूसरे में भिड़ जाते हैं और उनके अर्थ बोधकी समाप्ति हो जाती है उसी प्रकार दूसरे के विचारों को अपने मस्तिष्क में बार बार अंकित करने से मस्तिष्क की अर्थ ग्रहण करने की शक्ति ही समाप्त हो जाती है। जब तक मनुष्य पढ़ी गई बात पर चिन्तन नहीं करता वह समय पर उसके काम नहीं आती। यदि किसी सिंग पर देर तक एक भारी पत्थर रखा रहे तो सिंग अपना लचीलापन खो देता है। इसी प्रकार यदि मस्तिष्क के ऊपर सदा दूसरों के विचारों का बोझ लदा रहे तो मस्तिष्क भी अपने सोचने की शक्ति को खो देता है। जिन लोगों में पुष्पार्थ की प्रवृत्तता रहती है वे स्वतन्त्र चिन्तन को अपने जीवन में अधिक महत्त्व देते हैं। दूसरे लोगों के विचारों को अपने मस्तिष्क में उतनी ही दूर तक आने देते हैं जितनी दूर तक यह विचार उनके स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहन देते हैं। निकम्मे और आलसी स्वभाव के लोग दूसरे लोगों के विचारों को सदा बिना समझे बूझे रटते रहते हैं और इस प्रकार की अपनी देसमझी बूझी विद्वत्ता को अपना आभूषण मान लेते हैं। किसी विद्वान की पुस्तक को तेजी से पढ़ डालना उसका सम्मान नहीं अपमान है। विद्वान का सम्मान तभी होता है जब हम उसके प्रत्येक विचार का मूल्यांकन करें और अपनी समझ के अनुसार उसको उचित स्थान दें। पढ़े पाठ को न मूलने के लिये स्मरण शक्ति का व्यायाम करना आवश्यक है। जो कुछ पढ़ लिया उसे मनही मन दोहराना अच्छा है स्मरण शक्ति को बढ़ाने का एक सुगम उपाय अपने पढ़े हुए विषय को अपने किसी मित्र को बताना है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरों के हितार्थ आत्मप्रकाशन करता है वह न केवल दूसरों का लाभ करता है वरन् अपने आपका भी सबसे अधिक लाभ करता है। विद्या जितनी ही हम दूसरे को देते हैं उतनी ही वह हमारे मन में पक्की होती जाती है। फिर स्नेह और सफलता की भावना से सबधित होने के कारण दूसरे को दिया गया ज्ञान हमें प्रिय हो जाता है। मनुष्य अपनी सफलता की बातों को नहीं मूलता, दूसरों की प्रशंसा प्राप्त करने के कारण और आत्मप्रसाद के कारण वह सब समय स्मरण रखता है। फिर जब हम दूसरे को कोई बात समझाते हैं तो हमें चित्तकी सम्पूर्ण एकाग्रता की आवश्यकता होती है, पुस्तक के पढ़ते समय इतनी एकाग्रता की आवश्यकता नहीं होती। किसी बात को दूसरे को समझाते समय हमें स्वयं भी उसे मली

प्रकार सोचना पड़ता है, विभिन्न प्रकार के विचारों को क्रमबद्ध करना पड़ता है। उनकी संख्या ध्यान रखनी पड़ती है और फिर बोलते समय सरल और स्पष्ट भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। इन क्रियाओं के कारण दूसरों की समझाई गई बात के संस्कार हमारे ही मन में रह जाते हैं।

जो लोग अपने अध्ययन की सामर्थ्यता के विषय में आत्मविश्वास खो चुके हैं वे अपने से नीचे की कक्षा के विद्यार्थी को उसी विषय से पढ़ाने लग जायें तो उन्हें पठित विषय के बाद रखने में बड़ा ही लाभ हो। यदि ऐसे व्यक्ति को उस विषय का विद्यार्थी न मिले जिसे उसे पढ़ाना है तो किसी दूसरे विषय को पढ़ाओ जो उसे भली प्रकार आता हो उसे पढ़ाने लगे इससे भी उसे पर्याप्त लाभ होगा। इससे एक तो उसे विश्वास की एकाग्रता आएगी और दूसरे उसे अपनी शक्ति में विश्वास उत्पन्न होगा। मनुष्य जब चित्त की एकाग्रता खोता है तो वह अपना यह आत्म-विश्वास भी खो देता है कि वह अपने चित्त को किसी भी विषय में एकाग्र कर सकता है। बार बार असफलता होने पर मनुष्य में फायरता आ जाती है और फिर वह चित्त को एकाग्र करने की हिम्मत भी नहीं करता। चित्त एकाग्र करने की चर्चा करनेवाले व्यक्ति चित्त को एकाग्र नहीं कर पाते हैं। किसी ऐसे काम में लग जाने से जिसे व्यक्ति सफलता से कर सकता है चित्त एकाग्र होता है फिर जिस प्रकार असफलता की शृंखला असफलता ही उत्पन्न करती है उसी प्रकार सफलता की शृंखला सफलता उत्पन्न करती है। किसी भी बात में सफलता की भावना उत्पन्न होने पर मनुष्य दूसरे काम को भी सफलता से करने में समर्थ होता है। सफलता मनुष्य के आत्मविश्वास को बढ़ाती है और आत्म-विश्वास चित्त को एकाग्र करने का साधन बन जाता है।

दूसरे को पढ़ाते समय चित्त इसलिए भी एकाग्र होता है कि ऐसे कार्य में पढ़ाने वाले व्यक्ति की रचनात्मक आनन्द की अनुभूति होती है। रचनात्मक आनन्द की योड़ी भी अनुभूति मनुष्य के चरित्र में अनेक सद्गुणों का प्रादुर्भाव करती है। जो व्यक्ति जितना ही निस्वार्थ भाव से दूसरों के पढ़ाने में मन लगाता है वह अपनी मानसिक शक्तियों को उतना ही अधिक विकसित कर लेता है। स्वार्थभाव से दूसरों को पढ़ाने उतना लाभदायक नहीं होता जितना निस्वार्थ भाव से दूसरों को पढ़ाना लाभदायक होता है।

हमारे पास कितने ही ऐसे विद्यार्थी आते हैं जो दस-बारह घंटे काम करके भी तृतीय श्रेणी में परीक्षा पास करते हैं। कभी ऐसे विद्यार्थी ठीक परीक्षा के समय अपना पठित विषय भूल जाते हैं। वे कि अनिद्रा के रोग से पीड़ित हो जाते हैं अथवा किसी दूसरे रोग के शिकार बन जाते हैं। इस प्रकार की मनोस्थिति का कारण इन विद्यार्थियों में आत्मविश्वास की कमी होती है। मनुष्य में आत्मविश्वास तपस्या और त्याग से बढ़ता है। स्वार्थभाव, काम चोरी की मनोवृत्ति से मनुष्य का आत्म विश्वास विनष्ट होता है। जो मनुष्य जितना स्वार्थी होता है उसका मन उतना ही अधिक संशय किया करता है। संशय मन की ध्वंसात्मक मनोवृत्ति है। संवेग मनुष्य के बने बनाए काम को समाप्त कर देता है। यदि किसी पढ़ी हुई बात को स्मरण करते समय मनुष्य को संदेह हो जाय तो वह बात अवश्य भूल जाती है। मनुष्य के मन में संदेह इसलिए होता है कि उसे सदा भय बना रहता है कि वह पठित बात को भूल जाएगा। भय और चिन्ता के साथ विद्याध्ययन करने से जितनी शक्ति को काम करना पड़ता है उससे मनुष्य कितना ही अधिक कार्य कर सकता है। संशयास्पद मन से जो विद्याध्ययन की जाती है वह समय में काम नहीं आती। संशय की वृद्धि स्वार्थपने के बढ़ने के साथ-साथ होती है। उदार मन के व्यक्ति में संदेह नहीं सताते। इसीलिए यदि विद्या का अध्ययन अपने लाभ के लिए नहीं वरन् समाज के लाभ के लिए किया जाय तो चिरस्थायी हो जाता है और समय पर काम आता है। इसी प्रकार दूसरों की समझाते हुए जिस ज्ञान को हम प्राप्त करते हैं वह हमारी स्थायी सम्पत्ति बन जाता है, क्योंकि इस प्रकार

‘मनोविज्ञानशालामें मानसोपचार’

आज से चार-पांच महीने पहिले मैं इसी मनोविज्ञान शाला में आने के पूर्व में पुरानी स्टाइल का फोर्ड मोटर था, और आज न्यू माडल का हूँ। फोर्ड और न्यू माडल मैंने इसलिये कहा कि इस मोटर को स्टार्ट करते समय कुछ देर तक खड़खड़ाना पड़ता था। अर्थात् जिस प्रकार हर समय मोटर स्टार्ट करने के लिये दो मिनट स्टार्ट लेना पड़ता है उसी तरह मैं भी किसी से बात करने में पहले या कोई शब्द कहने के पहले कई बार व, व, व, व, कह लिया करता था। मैं अपनी एक तमन्ना आपको सुनाऊँ तो आपकी समझ में बात अच्छी तरह, आ जायगी। जब मैंने मिडिल स्कूल का इम्तहान दिया तो इम्तहान का नतीजा जानने के लिये जब मैं इलाहाबाद बड़ी मुश्किल से पहुँचा, फिर पूछते पूछते इण्डियन प्रेस पहुँचा। वहाँ बोलने से पहले स्टार्ट लिया और यही कह कर बन्द हो जाता कि “मैंने दिया ...” और कुछ मैं न कह सकता था। यह बड़ी मुश्किल से लिख कर काम चलाया। आते वक्त मुझे अपने आप पर बहुत गुस्सा आया। मैं यह चाहता था कि गंगा में कूद बाऊँ फिर सोचा कि यह दुनिया एक फिल्म है तरह तरह के इन्सान यहाँ हैं। ईश्वर की यही मर्जी है कि मैं यही दुख भोगता रहूँ। इस तरह के कई किस्से हैं। वहाँ जहाँ जाता वहाँ छोटे भाई के साथ जाता था। पिता जी से भी बोलने में मेरी यही दशा थी।

के ज्ञान के उपार्जन के समय हमें यह संदेह ही नहीं रहता कि वह ज्ञान समय पर हमें काम न देगा।

आधुनिक मनोविज्ञान के एक महान पंडित डा० विलियम ज़ाउन का कथन है कि मनुष्य अपनी अनेक प्रकार की मानसिक शक्तियों की वृद्धि प्रति दिन के आत्मनिर्देश से कर सकता। आत्मनिर्देश के द्वारा मनुष्य अपने चित्त की एकाग्रता स्मरण शक्ति, इच्छा-शक्ति और आत्म-विश्वास को बढ़ा सकता है। आत्म-निर्देश मन और शरीर की शैथिलीकरण की अवस्था में अपने आपको दिया जाता है। मन को शान्त करके जिस प्रकार का विचार मनुष्यधारण करता है वह उसके वाहरी मन से अन्तर्मन में प्रवेश कर जाता है और फिर मनुष्य का व्यक्तित्व उसी विचार के अनुसार निर्मित होने लगता है। मनुष्य के चेतन मन की शक्ति सीमित है, परन्तु अचेतन मन की शक्ति असीम है। मन की शैथिलीकरण की अवस्था में मनुष्य इस अचेतन मनसे सम्पर्क स्थापित कर लेता है। जब इस मन से सम्पर्क स्थापित हो-जाता है तो एक ही दिन की पढ़ी बात बहुत समय तक याद रहती है। जो मनुष्य अपने मनको बार-बार सुझाते रहता वह पढ़ी हुई बात को नहीं भूलेंगा, वह अपने आपको शुभ निर्देश देता है और जो वह बार बार सोचता है कि वह पढ़ी बात को भूल जाएगा वह भूल जाता है। मनुष्य अपनी सभी शक्तियों को शुभ निर्देश के द्वारा बढ़ा सकता है किसी प्रकार के शुभ निर्देश की सफलता के लिए उतने ही त्याग की आवश्यकता है जितनी प्राप्ति की हम आकांक्षा करते हैं। सबके हित के चिन्तन करने वाले व्यक्ति को सब समय ही शुभ निर्देश मिलते रहते हैं। उसके सामान्य चेतना में भी विराट् पुरुष से सम्पर्क रहता है परन्तु ऐसे व्यक्ति के लिए भी यह आवश्यक है कि वह समय समय पर समाज से अलग होकर अपने आपको मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में छोड़ दे और देश काल तथा कार्य-कारण भाव के परे तत्त्व में अपनी चित्त वृत्तियों को लय करे। प्रति दिन के इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य की न केवल चित्त की एकाग्रता, स्मरण-शक्ति और इच्छा-शक्ति बलवान हो जाती है वरन् उसमें अनेक दूसरे प्रकार की मानसिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। ऐसे व्यक्ति की विद्या समय पर उसके काम आती है।

मैं मिडिल स्कूल में पढ़ता था। इंगलिश और ज्योमेट्री में बड़ा गदाई था। इस रोग ने मेरी बड़ी सहायता की। मास्टर साहब मुझको तख्तस्याह पर ज्योमेट्री समझाने लिए नहीं भेजते थे। प्रश्नोत्तर में कोई सवाल नहीं पूछा जाता था। वहाँ मैंने जान बूझ इकलाना शुरू किया, किसी किसी तपस्वि मिडिल स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास किया और घर पर पिता जी से भी मैं बोलने में इकलता था। वे मुझसे कोई सवाल नहीं करते थे पहले तो मुझे बचाव के लिए यह रास्ता बहुत अच्छा लगा लेकिन बाद में ज्यो-ज्यों आगे बढ़ता गया मुझे इस रोग से परेशानी बढ़ने लगी। बहुत इलाज मैंने की। मैं लफड़िया बाबा के यहाँ भी गया था। कई तरह की दवाइयों की शीशियाँ खाली कर दीं और यहाँ तक एक साहब ने बताया कि तलवे में घोंटी छोटी है। चबान मोटी है। मैंने बहुत दवा भी खायी और तलवे की ललरी एक दम काटना चाहा। लेकिन एक दिन मेरे दोस्त केशवप्रसाद ने शुक्लजी का नाम बताया और मैं अखबार में भी मनोविज्ञानशाला का लेख बहुत पहले पढ़ चुका था, मुझे यह नहीं मालूम था कि यह रोग यही अच्छा हो सकता है। जब मुझे औरंगाबाद पता बताया तो मैंने समझा कि लफड़िया बाबा का ही नाम शुक्ल जी हैं। लेकिन किसी तरह ढूँढ़ता हुआ मनोविज्ञानशाला आया। अन्दर आने की हिम्मत न पड़ी। वापस लौट गया क्योंकि मैं तो शुक्लजी को खूब रोवदार, मोटा, तगड़ा, जेंटिलमैन डाक्टर समझता था, किसी प्रकार साहस करके मैंने एक पत्र अन्दर भेजवाया। उत्तर में मुझे खुद ही वे मिलने चले आये। पहले तो मैंने समझा कि मनोविज्ञान का कोई कम्पाउण्डर हैं और शुक्लजी को न पाकर बहुत हैरान हुआ ऊपर से कम्पाउण्डर साहब ने मुझे तंग करना शुरू किया। तुम्हारा नाम क्या है ? कहाँ से आए हो ? स्टार्ट लेने के लिये तो मुझे मौका मिला ही नहीं और इसीलिए मैंने सारी कथा पत्र में लिखवाकर उन्हें भेजवा दी दी आश्चर्यकार उन्होंने मुझे दूसरे दिन शाम को आने के लिए कहा। दूसरे दिन भी मैंने शुक्लजी को न पाया और लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि यही शुक्ल जी थे, तब तो मेरे तान्त्रिक का ठिकाना न रहा; हाँ एक बात और थी कि मीटिंग शुरू होने के पहले एक मिस्टर ने मुझे नाम पूछा, मैं अन्दर ही अन्दर स्टार्ट ही ले रहा था कि वह समझे कि मुझे नाम बतलाने में कोई इतराव है। अट से दूसरे शुक्लजी से पूछा बैठे कि नाम न बतलाने का क्या मनोवैज्ञानिक कारण है। शुक्लजी ने कहा कि देखो जिस चीज से मन अधिक प्रेम करता है उनका नाम बहुत जल्दी नहीं होता। इस प्रकार नाम भी तो प्यारा होता है। ऑस के घूँट पीकर रह गया कि कास मुझे अपने नाम से इतना प्यार न होता तो और लोगों की तरह अट से अपना नाम बतला दिया करता।

दूसरे दिन मुझे सात बजे रात को बुलाया गया और तख्ते पर सोनेके लिए कहा गया। मुझे ऐसी नींद आगई कि मैं स्वप्न देखने लगा और मैं देखने लगा कि मैं आसमान में उड़ता जा रहा हूँ और पानी की बूँदें धीरे-धीरे गिर रही हैं इस दौरान मैं शुक्ल जी मेरे ऊपर हाथ फेरते रहे। वह गुदगुदी मुझे ऐसी अच्छी लगी कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। शायद आप लोगों में बहुतों को इसका अनुभव भी होगा इसके बाद गुरुजीने मुझको जगया मैं नहीं कह सकता कि यह कौन सी विधि थी। यह आत्मनिर्देश विधि थी या मनोविश्लेषण विधि या शैथिलीकरण विधि या मानसोपचार विधि थी, मैं नहीं कह सकता कि सुताकर मुझको आनापान सति कराया गया, या क्या कराया गया उन्होंने मेरी तफलीफों को बहुत ध्यान से सुना और यह बतलाया कि तुम्हारे अन्दर सभी प्रकार की शक्तियाँ मौजूद हैं तुम दुनियाँ में बहुत बड़े काम कर सकते हो। फिर मेरे अन्दर एक नई ताकत आ गई मैं अपने को अब इकला नहीं समझता और बड़े २ लोगों से बात चीत करने में मुझे बरा भी यह अनुभव नहीं होता कि मैं किसी समय इकला था या अभी भी कुछ इकला हूँ।

(मुहम्मद इकबाल हुसेन खॉं)

ग्रामीण मन की विशेषतायें

किसी भी राष्ट्र में नयी जायति पैदा करने के लिए ग्रामीण मन की शक्तियों को जानना और उनको सदुपयोगी बनाना आवश्यक है। शहर में राष्ट्र का चेतन मन रहता है। शहर राष्ट्र का मस्तिष्क है और गाँव राष्ट्र का हृदय, अर्थात् उसका अचेतन मन। मस्तिष्क का काम सोचना है, मार्ग प्रदर्शन करना है, हृदय का काम मस्तिष्क को बल देना है। हमारी अधिक ज्ञानेन्द्रियाँ मस्तिष्क में ही हैं और हमारी शक्ति का स्रोत हृदय में रहता है। मस्तिष्क और हृदय के मेल से ही मानव जीवन सरलता से चल सकता है। जब ये दोनों एक दूसरे के विरोधी होते हैं अथवा जब मस्तिष्क हृदय के अनुरूप काम नहीं करता है तो मनुष्य में अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जो बात मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में ठीक है वह बात राष्ट्रीय जीवन में भी ठीक है। राष्ट्र व्यक्ति का एक विशाल रूप है। शहर में राष्ट्र की बुद्धि और प्रतिमा है, परन्तु गाँव में ही वह शक्ति है जिससे कि राष्ट्र जीवित रहता है। शहर का स्थान गाँव से उसी प्रकार ऊँचा है जिस प्रकार मस्तिष्क का स्थान हृदय से ऊँचा है, परन्तु यदि मस्तिष्क अपने ऊँचे स्थान को समझ कर हृदय के प्रति लापरवाह हो जाय तो फिर जीवन ही सम्भव न हो। इसी तरह जब शहर के लोग गाँव के लोगों की परवाह नहीं करते अथवा उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं तो राष्ट्रीय जीवन दूषित हो जाता है।

जब किसी देश पर विदेशियों का राज्य होता है तो देशके लोग शहर की ओर भागते हैं और देहात को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं—जब इस प्रकार की परम्परा एक बार प्रारम्भ हो जाती है तो विदेशी राज्य के चले जाने पर भी यह प्रवृत्ति बनी रहती है। इससे परिणाम-स्वरूप मनुष्य का सारा जीवन दूषित और शक्तिहीन हो जाता है। हम अपने जीवन-यापन के लिए गाँव पर निर्भर हैं। गाँव ही हमें खाने-पीने की वस्तुएँ देता है जिससे हम हृष्ट-पुष्ट होते हैं। गाँव से ही हमें वह पैसा आता है जिसे पाकर हम शहर में बड़ी-बड़ी अट्टालियाँ बनवा लेते हैं और मोटरों में चढ़कर इधर-उधर घूमते हैं। इतना करते हुए भी हम यह खयाल नहीं करते कि हमारा धन दौलत, हमारी शान शौकत का आधार गाँव है। हम गाँव के लोगों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। हम यह जानने की चेष्टा नहीं करते कि उनके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है ? यह अवस्था राष्ट्र के मानसिक अस्वास्थ्य की अवस्था है।

जब मनुष्य की बुद्धि अधिक बढ़ती है तो वह बहिर्मुखी हो जाता है। वह बाहर की बातों में अधिक रुचि लेता है अपने आर के बारे में जानने की चेष्टा नहीं करता। वह सोचने लगता है कि यदि मुझमें कोई शक्ति आयेगी तो बाहर से आयेगी। परन्तु यह एक भूल है। शक्ति का स्रोत मनुष्य के व्यक्तित्व में ही है। मनुष्य जो शक्ति अपने चेतन मन से पाता है उसका उद्गम स्थान उसका अचेतन मन है। जब मनुष्य अन्तर्मुखी हो जाता है और अपने आप में उन मानवी शक्तियों को खोजने की चेष्टा करता है जिनके कारण वह संसार में अद्भुत काम कर दिखाता है तब वह इन शक्तियों को अपने आपमें देखता है। जब किसी राष्ट्र में यह सद्बुद्धि आती है कि राष्ट्र के चिन्तनशील व्यक्ति गाँव की ओर जावें और इन शक्तियों की खोज करे तो वे राष्ट्रीय जीवन को अनुप्राणित कर देते हैं, अथवा राष्ट्र का फिर नव-निर्माण हो जाता है। यह हमारे सौभाग्य की बात है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार ने बहुत समझ-बूझ कर राष्ट्रीय उद्धार की एक ऐसी योजना बनाई है जिसका सर्वोत्कृष्ट भाग गाँवों में जाना, गाँव के लोगों से सम्पर्क स्थापित करना, उनको संगठित करना, उनमें नव-शक्ति का जागरण करना है। यदि हम इस

योजना को सफल बना सकें तो हमारा देश सचमुच में ही आर्थिक, बौद्धिक, और चारित्रिक दृष्टि से उच्च कोटि का राष्ट्र बन जायेगा।

हमारे सबसे महत्व के प्रश्न हैं कि राष्ट्र की प्राकृतिक शक्तियाँ कौन हैं ? इन प्राकृतिक शक्तियों को हम किस प्रकार सदुपयोग में ला सकते हैं ! वे आज सदुपयोग में क्यों नहीं आ रही हैं ! और इन प्राकृतिक शक्तियों के मार्ग की रुकावटें कैसे हटाई जा सकती हैं ! जिस प्रकार किसी व्यक्ति की प्राकृतिक शक्तियाँ उसके संवेग और मूल प्रवृत्तियाँ हैं, उसी प्रकार राष्ट्र की प्राकृतिक शक्तियाँ भी उसकी मूल प्राकृतियाँ और संवेग हैं। यदि इन मूल प्रवृत्तियों और संवेग का प्रवाह ठीक है तो मनुष्य का जीवन आशावादी और आनन्दमय होता है, उसकी हर एक बात में प्रगतिशीलता रहती है, उसके मन में अपने प्रति विश्वास रहता है वह दूसरों से स्नेह करता है और उनकी सेवा के लिए तत्पर रहता है, उसमें सामाजिकता बढ़ी चढ़ी रहती है, वह अकेला नहीं रहना चाहता, वह समाज में मिल-जुल कर अर्थात् दूसरों के साथ-साथ काम करना चाहता है। इसके प्रतिकूल जब मनुष्य की मानसिक शक्तियों में आपस में विरोध रहता है और उनके प्रकाशन में रुकावटें होती हैं तो मनुष्य निराशावादी हो जाता है, उसके कार्य उत्साह हीन हो जाते हैं, कहीं भी उसके जीवन में प्रगतिशीलता नहीं दीख पड़ती, उसके मन में अपने आप के प्रति घृणा के भाव दिखाई पड़ते हैं ऐसे मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ बनी रहती हैं। ये मानसिक ग्रन्थियाँ मानसिक शक्तियों को विकृत कर देती हैं।

राष्ट्र के जीवन में जब अन्तरद्वन्द्व बढ़ जाता है, जब राष्ट्र के बुद्धिमान लोग देहात के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं, और जब वे राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति उदासीन हो जाते हैं अथवा उसकी उपेक्षा करने लगते हैं तब राष्ट्र निर्बल हो जाता है। ऐसी अवस्था में राष्ट्र के आन्तरिक मन में रहनेवाली शक्तियाँ विकृत हो जाती हैं। फिर किसी प्रकार के रचनात्मक कार्य नहीं होते, ध्वंसात्मक कार्य होने लगते हैं, आशावाद की जगह निराशावाद का स्थान घर कर लेता है। ग्रामीण जनता हठी रूढ़वादी, और भाग्यवादी बन जाती है, जब कभी उससे शहर की बनी हुई किसी योजना का समर्थन करने की आशा की जाती है तो वह उसे सन्देह तथा उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। वह उसके सफल होने में सहयोग न देकर उसके विफल होने में ही खुशी मनाती है। सरकार से आर्ह हुई कोई भी व्यवस्था अग्रिम लगती है। जब तक ग्रामीण मन की मानसिक ग्रन्थियों को नहीं सुलझाया जाता, तब तक ग्रामीण नर-नारियों से किसी भी योजना का हार्दिक सहयोग प्राप्त करना दुष्कर है।

गाँव के लोगों को अपनी शक्तियों का ज्ञान नहीं होता। वे स्वयं उस ज्ञान को अपने आप प्राप्त भी नहीं कर सकते। इसके लिए शहर के पढ़े-लिखे लोगों को प्रेरणा देनी पड़ेगी। यह उनका कर्तव्य है। यह न केवल गाँव के लोगों के प्रति वरन् यह कर्तव्य उनको अपने आपके प्रति भी है। शहर के लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति गाँव के लोग करते हैं। यदि वे शहर की आवश्यकताओं की पूर्ति न करें तो शहर के लोग जीवित न रह सकें। अतएव अपने आप जीवित रहने के लिए भी यह आवश्यक है कि वे गाँव में सब प्रकार की उत्पत्ति करने की चेष्टा करें। अज्ञान की बुद्धि के कारण जो गाँव की शक्ति आपस के लड़ाई-झगड़े, व्यक्तिगत शान दिखाने, व्यभिचार और दुराचार में खर्च होती है, वही शक्ति नया शान उत्पन्न होने पर सामाजिक उत्थान के प्रयोग में आ सकती है। उस शक्ति से गाँव, बनवान, विद्वान और चरित्रवान बन सकता है।

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से देखने पर हमने गाँव को राष्ट्र का अचेतन मन कहा है। मनुष्य के अचेतन मन में न केवल उसकी प्राकृतिक शक्तियाँ रहती हैं वरन् वे बातें भी रहती हैं जो मानव जीवन

को सम्भव बनाती हैं। चेतन मन अर्थात् शहर के लोगों की बुद्धिमानी व्यवहार-कुशलता में देखी जाती है, अचेतन मन की अर्थात् ग्रामीण मन की बुद्धिमानी व्यवहार-कुशलता में नहीं पाई जाती, यह बुद्धिमानी मनुष्य को स्थायी बनाने में देखी जाती है। आधुनिक काल के सबसे बड़े मनोविज्ञानिक चार्ल्स युंग महा-श्व का कहना है कि "मनुष्य का अचेतन मन निराश्रित नहीं है और न बुरा ही है, जब उसका दमन किया जाता है तब वह बुरा बन जाता है" गाँव के लोगों में सहज बुद्धिमानी रहती है। इन लोगों में कुछ बुराईयें हैं क्योंकि ये शहर के लोगों से भली बातों की अपेक्षा बुरी बातों की जल्दी नकल कर लेते हैं। परन्तु गाँव के लोगों की अधिक बुराईयें उनके दमन के कारण उत्पन्न होती हैं। उस दमन के कारण उनमें निराशावादिता आई है। गाँव के लोगों को शहर के लोगों का स्नेह बहुत कम मिलता है। उन्हें उनसे घृणा ही मिलती है। यही कारण है कि हम गाँवों में हठवादिता, निराशावादिता और निकम्मा-पन देखते हैं।

गाँव में नव-शक्ति जागरण करने के लिये गाँव के लोगों से मेल-जोल करना नितान्त आवश्यक है। उनकी प्राकृतिक शक्तियों का दमन न कर हमें उनके उद्दीप्तीकरण का मार्ग ढूँढ़ना चाहिए। सब प्रकार निराशावादी व्यक्ति अर्थात् मानसिक अन्तर्द्वन्द्वता से पीड़ित व्यक्ति किसी भी प्रकार के काम से जी चुराता है। उसी प्रकार कार्य-शीलता, अन्तर्द्वन्द्व और निराशावादिता को निमूल कर देती है। अंग्रेजी में कहा-वत है कि "काम ही पूजा है" यदि कोई व्यक्ति किसी न किसी काम में लगा रहे तो थोड़े ही समय में उसके आन्तरिक मन में अपने आप ही एकीकरण हो जायेगा, उसका मानसिक अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो जायेगा, उसकी निराशावादिता का अन्त हो जायेगा और वह उसी व्यक्ति बन जायेगा। उपयोगी काम को लगन से करने से बढ़कर मानसिक रोगों की कोई औषधि नहीं है। इस समय गाँव के लोग निराशा-वादी और निकम्मे हो गये हैं, वे अपनी ही भलाइयों को मूल गये हैं। उनका आत्मविश्वास जाता रहा है। उन्होंने समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को नहीं पाया, अतएव उनका स्वामिमान खो गया है। गाँव के लोगों में नव-शक्ति लाने के लिए उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न करना नितान्त आवश्यक है। जब उनके विचार आशावादी बन जायेंगे और जब वे सोचने लगेंगे कि हम दुनियाँ में कुछ कर सकते हैं तब उनकी उन्नति अपने आप होने लगेगी।¹⁰

उक्त लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए गाँव के लोगों को उपदेश देना पर्याप्त नहीं है। दुनियाँ में उपदेश देनेवालों की कमी नहीं है। उपदेश देने से स्वस्थ व्यक्ति ही लाभ उठा सकता है जिसको उपदेश की वास्तव में कुछ आवश्यकता ही नहीं। अस्वस्थ व्यक्ति की उपदेश के प्रति विरोध की प्रतिक्रिया होती है। वही व्यक्ति अस्वस्थ मन के व्यक्ति में नव-जीवन उत्पन्न कर सकता है जो उनके साथ झुलमिल जाये। और जिस काम को करना वह दूसरे के लिए आवश्यक समझता है, वह काम स्वयं ही करने लगे। आत्म-विश्वास से चरित्र-गठित होता है। आत्म-विश्वास और चरित्र के सद्गुण के अनुकूल वातावरण बन जाता है और एक व्यक्ति के सद्गुण दूसरे के सद्गुण बन जाते हैं। अंग्रेजी में कहावत है कि 'जिस प्रकार रोग है और एक व्यक्ति के सद्गुण दूसरे के सद्गुण के संक्रामकता रोग की संक्रामकता से कहीं अधिक है, स्वास्थ्य भी उसी प्रकार संक्रामक है'। स्वास्थ्य की संक्रामकता रोग की संक्रामकता से कहीं अधिक है। यदि ऐसा न होता तो संसार में आज कोई व्यक्ति जीवित ही नहीं रह जाता। अतएव यदि हमारे राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं में आदर्शवादी विचार और आत्मविश्वास है, यदि राष्ट्र में नव जागृति करने में उनकी लगन है तो ये बातें ग्रामीण जनता में स्वभावतः उनके अनजाने ही चली आवेगी।

प्रत्येक मनुष्य में अपने आपकी प्रगतिशील बनने की स्वाभाविक इच्छा होती है। कोई व्यक्ति अपने आपको नीचा नहीं बनाना चाहता। एक व्यक्ति की प्रगति करते देख दूसरे व्यक्ति को अपनी प्रगति करने

श्रीराजाराम शास्त्री का भाषण

स्थानीय काशी विद्यापीठ के अध्यापक श्री राजारामजी शास्त्री ने मनोविज्ञानशाला की कार्य प्रणाली और मनके भावों और भाषा का निकट सम्बन्ध बताते हुए कहा—महर्षि पतंजलि के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने मानसिक, वाचिक और कायिक तीन प्रकार के मलों का प्रक्षालन क्रमशः योग, व्याकरण और आयुर्वेद के द्वारा किया था। तीनों प्रकार के रोगों का एक दूसरे से बड़ा गहरा सम्बन्ध रहता है। मन, वाणी और शरीर का सम्बन्ध बड़ा गहरा है और एक को दूसरे से भिन्न नहीं किया जा सकता। भाषा का चित्त से सम्बन्ध अधिक है। चित्त के भावों का प्रकाशन भाषा के द्वारा ही होता है। भाव भाषा का प्राण है और भाषा शरीर का। मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के द्वारा भावों का उचित रूप से प्रकाशन कठिन है। वैसे तो कोई भी भाषा भावों का पूर्णरूपेण प्रकाशन करने में असमर्थ है। पर भावों का प्रकाशन मातृ भाषा में सुगम और अधिक संभव है। इस प्रकार की कठिनाई के कारण हमारे यहाँ मानसिक चिकित्सा सम्बन्धी बातों में बड़ी गड़बड़ी मचती रहती है। हमारे यहाँ विशेष कर लोग मानसिक चिकित्सा के नोट आदि और रोगों की जीवनी बातचीत आदि भी अंग्रेजी में बनाया करते हैं। इससे चिकित्सा प्रणाली में बड़ा दोष उपस्थित हो जाता है।

साधारणतया समाज में मनुष्य अपने आप पर लगाम लगाये रहता है। वह समाज में अपने सब भावों का स्वाभाविक रूप से प्रकाशन नहीं करता। समाज में प्रकाशित करते समय उसे अपने भावों को एक विशेष प्रकार से तोड़-मरोड़ देना पड़ता है, और जो मार्ग समाज में उचित समझा जाता है अधिकतर उसी मार्ग पर उसे अपने संयमित मानसिक-बोड़े को चलाना पड़ता है। इससे उसके बहुत-से भाव दमित हो जाते हैं और कालान्तर में उनसे मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य इस प्रकार मानसिक रोगों का शिकार होने पर मानसिक चिकित्सक की शरण लेता है तो उसे अपने सभी

की इच्छा बूझ जाती है। आशा के दीप यदि एक हृदय में जलते हैं तो वे उस हृदय से सम्पर्क रखने वाले सभी हृदयों में आशा के दीप जला देते हैं। प्रत्येक मनुष्य लोहे के टुकड़े के समान है जिसमें प्रस्तुत रूप से चुम्बकीय शक्ति विद्यमान रहती है। इस शक्ति का ज्ञान उसे तब तक नहीं होता जब तक वह किसी ऐसे व्यक्ति के बार-बार सम्पर्क में नहीं आता जिसमें चुम्बकीय शक्ति क्रियमाण हो रही हो। चुम्बक लोहे के बार-बार स्पर्श करने से साधारण लोहा चुम्बक बन जाता है, उसी प्रकार आशावादी, उद्योगी, प्रफुल्ल मन के व्यक्ति के सम्पर्क में आने से साधारण मनुष्य भी आशावादी बन जाता है।

मनुष्य की सभी प्रकार की समृद्धि का आधार उसका मन है। जब मन प्रसन्न और रचनात्मक होता है तो मनुष्य को भौतिक धन सरलता से मिल जाता है। ऐसे मनवाले व्यक्ति अपनी उद्योगशीलता से न केवल स्वयं धनवान बन जाते हैं वरन् दूसरों को भी कुछ न कुछ अपना मौलिक धन दे देते हैं। जिस मनुष्य का मन निराशावादी होता है, जिसके मन में सदा ध्वंसात्मक विचार आते रहते हैं, वह किसी प्रकार की प्रगति नहीं कर सकता। वह शरीर से भी स्वस्थ नहीं रहता। किसी न किसी प्रकार का रोग उसे घेरे रहता है। बात बात में वह दूसरों से झगड़ा कर बैठता है। ऐसा व्यक्ति धन-सम्पन्नता किसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकता। मन का घनी ही दूसरे प्रकार के धन का अधिकारी होता है। उस्ताह और आशावादी विचार मनुष्य के मन के धन हैं। आत्मश्लानि और ध्वंसात्मक विचार मन के दारिद्र्य हैं। पहले प्रकार के विचार मानसिक शक्तियों के बल का ज्ञान करने और उनका सदुपयोग करने से आते हैं और दूसरे प्रकार के विचार मानसिक शक्तियों के दुरुपयोग और उनके दमन के परिणाम हैं।

प्रकार के गुप्त भावों को उसके सामने प्रकाशित करना पड़ता है। इसके लिये रोगी के साथ चिकित्सक का स्नेह होना अत्यावश्यक है। इसके बिना वह मन के गुप्त भावों को चिकित्सक के सामने खोल ही नहीं सकता, पर साधारणतया प्रत्येक मनुष्य में अपनी गुप्त बातों को छिपाने का स्वभाव होता है। अपनी गुप्त बातें दूसरों के समक्ष प्रकट करने में एक प्रकार का संकोच होता है। इस संकोच को दूर करने के लिये आधुनिक मनोविज्ञान ने अनेक प्रकार के साधन बताए हैं। उनमें सबसे बड़ा साधन रोगी से उसकी मातृ-भाषा में बात-चीत करना है। अपनी भाषा में भाव और स्मृतियाँ स्वाभाविक रूप से हमारे अचेतन मन से उठकर चली आती हैं। पर जब भावों के स्वाभाविक रूप से उठने और भाषा द्वारा प्रकाशित होने में कुछ थोड़ा भी अधिक समय लगता है तो उस समय स्वभावगत संकोच की प्रवृत्ति अथवा अपने बुरे समझे जाने वाले भावों और कार्यों को गुप्त रखने की प्रवृत्ति कार्य करने लगती है। इस प्रकार की अवस्था में रोगी के मन की वास्तविक बातों का पता लगाना बड़ा ही कठिन होता है। ऐसी अवस्था में रोगी स्वयं भी प्रयत्न करे तो भी यह कार्य संभव नहीं होता क्योंकि उसके भावों की यह रोक उसके अचेतन मन का कार्य है उसके चेतन मन का अधिक बश इस पर नहीं चलता। पर हमारे देश में बहुत से लोग मानसिक चिकित्सा संबंधी बातें अंग्रेजी में ही करते हैं। वे रोगी से अपनी जीवनी व स्वप्न भी अंग्रेजी में ही लिखने को कहते हैं। पर अंग्रेजी का ज्ञान होने पर भी अंग्रेजी हमारी मातृभाषा न होने के कारण रोगियों को भावों के ठीक प्रकाशन के लिये शब्दों की खोज करनी पड़ती है। इस प्रकार उनके भावों के उठने और भाषा के रूप में प्रकाशित होने में कुछ विलंब होता है और इसी बीच उनकी संकोच की अचेतन प्रवृत्ति बहुत से भावों को छिपा लेती है अथवा प्रकाशित होने से रोक लेती है। इस प्रकार मातृ-भाषा के सिवाय दूसरी भाषा में भावों का स्वाभाविक रूप से प्रकाशन न होने के कारण रोगी के गुप्त भावों को प्रकाशित न होने के लिये एक बड़ा साधन मिल जाता है और इससे चिकित्सा कार्य अत्यंत बरिल हो जाता है। पहिली भूल तो दूसरी भाषा को माध्यम बनाने पर गुप्त भावों के प्रकाशन में ही हो जाती है। दूसरी कठिनाई यह भी होती है कि यदि रोगी अंग्रेजी जानता है तो उसका जो भाव हो उसके वह अंग्रेजी में कोई उचित शब्द ही न खोज सके और इस प्रकार उसके उचित भावों के विषय में भ्रम हो सकता है। साथ ही जो लोग हिन्दी में सुनकर अंग्रेजी में रोगी की जीवनी, स्वप्न, तथा चिकित्सा सम्बन्धी अन्य बातें लिखा करते हैं वे बड़ी भारी भूल करते हैं। जिन शब्दों को रोगी अपनी मातृभाषा में कहता है उसके शब्दों का एक विशेष प्रकार का मनोवैज्ञानिक अर्थ हो सकता है। रोगी की भाषा की एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिक व्याख्या होती है। पर जब हम उसके शब्द ही बदल कर दूसरी भाषा में कर देते हैं तो इस प्रकार के शब्दों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या नहीं हो सकती। अतएव मातृभाषा के अभाव में चिकित्सा के मनोवैज्ञानिक स्तर पर आने में कठिनाई हो जाती है और इस प्रकार के चिकित्सा संबंधी बहुत से निश्चय समाप्त हो सकते हैं।

स्वप्न का अध्ययन आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में रोग का कारण जानने के लिये आवश्यक माना गया है। रोगों के अचेतन मन की गुप्त बातों के ज्ञान के लिये यह एक बड़ा ही प्रमुख साधन बतलाया गया है। स्वप्न में अचेतन मन में छिपी हुई बातें प्रतीक रूप से अथवा कुछ स्वरूप बदल कर प्रकट होती हैं। इसलिये स्वप्नों का ठीक ठीक अर्थ समझना बड़ा ही कठिन कार्य है। स्वप्नों का उचित अर्थ समझने के लिये प्रतीकों का अध्ययन किया गया है और विशेष प्रकार के प्रतीकों का विशेष अर्थ होता है। जैसे स्वप्न में सर्प दिखाई देना काम-वासना का प्रतीक है, रेलगाड़ी छूटना सर्प विषारने की तैयारी का आदि इस प्रकार और भी अनेक प्रतीकों का अपना अपना अर्थ लगाया जाता

है। पर किसी देश की सभ्यता और संस्कृति का प्रतीकों के अर्थों पर बड़ा ही प्रभाव पड़ता है। जिस देश में जिन बातों का जो अर्थ लगाया जाता है वे उसी की सभ्यता अथवा संस्कृति में ही प्रतीक रूप से काम में लाई जा सकती हैं। जैसे हमारे यहाँ के लोगों को यम, वरुण, आदि का स्वप्न हो सकता है। पर विलायतवाले जिन्होंने इनका नाम भी कभी नहीं सुना है, इस प्रकार के स्वप्न ही नहीं होंगे। अतएव प्रत्येक देश की संस्कृतिके अनुसार स्वप्नोंके प्रतीकों का अर्थ भिन्न-भिन्न ही होगा। हमारे देशमें जो पश्चिमी मनोवैज्ञानिक पद्धति का अध्ययन करके उन देशों में प्रतीकों का जो अर्थ होता है उसी को हमारे यहाँ मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के प्रयोग में लाया जाता है। यूरोप की संस्कृति के प्रतीकों की परंपरा हमारे प्रतीकों की परंपरा से भिन्न है। अंग्रेजी सभ्यता के प्रतीकों को यहाँ के लोगों पर लादना बड़ी भारी मनो-वैज्ञानिक भूल है जो साधारणतया यहाँ के मनोवैज्ञानिक चिकित्सक करते हैं और इस प्रकार की चिकित्सा प्रणाली भ्रमात्मक है। मनोविज्ञानशाला की सबसे बड़ी विशेषता इसी में कि वह मानसिक चिकित्सा का कार्य भारतीय भाषा अथवा हिन्दी के द्वारा करती है। साथ ही यद्यपि यहाँ की मानसिक-चिकित्सा पद्धति में पश्चिमी आधुनिक मनोविज्ञान के ज्ञान की सहायता ली जाती है फिर भी विशेषतया भारतीय पद्धतियों, जैसे मैत्रीभावना, शैथिलीकरण अथवा आनापानसति का अभ्यास आदि से ही काम लिया जाता है। भारतीय पद्धति और भारतीय भाषा के माध्यम द्वारा ही हमारे यहाँ मनोविज्ञान का अच्छा अध्ययन हो सकता है और यह कार्य मनोविज्ञानशाला कर रही है।

बहुत से लोगों का विश्वास है कि मनोविज्ञान का अध्ययन आधुनिक समय में पश्चिमी देशों में ही प्रचार हुआ है। हमारे देश में मनोविज्ञान का अध्ययन विशेष रूप से अथवा शास्त्रीय ढंग से नहीं हुआ। वास्तव में यह एक प्रकार का भ्रम है। हमारी सभ्यता अत्यंत प्राचीन है। जो सभ्यता थोड़े काल की भी होती है तो वह मन के विषय में कुछ न कुछ ज्ञान का अर्जन कर ही लेती है और मन के विषय में अपना कुछ न कुछ हल प्रस्तुत कर ही देती है। पर यहाँ की सभ्यता इतनी पुरानी है कि जब यहाँ उपनिषदों और दर्शनों का निर्माण हो रहा था तब और दूसरे लोग बर्बरता का ही जीवन व्यतीत कर रहे थे। ऐसी अवस्था में यह कहना है कि यहाँ कोई मनोविज्ञान ही नहीं था एक बड़ी भूल है। इस प्रकार हमारे यहाँ मन का बड़ी ही गंभीरता से अध्ययन हुआ है और उसी के परिणाम-स्वरूप कई प्रकार की योग-विधियों मन को वश में करने की और शुद्ध करने की अथवा मानसिक गुणधियों का निराकरण करने की बनाई गई हैं। जैसे हमारे यहाँ (फिजिपालोजिकलथेपी) हठयोग और (साइकालोजिकलथेपी) राजयोग के रूप में बहुत प्राचीन काल से ही वर्तमान है।

साथ ही मन की जाँच करने के लिये बहुत से यन्त्रों का अत्यधिक उपयोग भी पश्चिमी आधुनिक मनोविज्ञान का एक भ्रम है। यन्त्रों को आन्तरिक साधनों का रूप नहीं दिया जा सकता और न मनुष्य के मन को किन्हीं खास प्रकार के यन्त्रों से नापा ही जा सकता है। आजकल I. Q. अथवा बुद्धि की परीक्षा भी भ्रमात्मक ही है। वह स्वयं पूर्णरूपेण परीक्षित नहीं है। उसके आचार पर जीवन का कोई भी सिद्धान्त बनाना और भी भ्रमात्मक है। उसका नौकरी देने अथवा किसी आदमी को किसी कार्य में लगाने में अत्यधिक उपयोग उचित नहीं। पश्चिम में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों की बड़ी विचित्र अवस्था है। वे परिवर्तनशील अधिक रहते हैं। इसका कारण वहाँ के लोगों की शीघ्रगामिता और नई खोज के नाम द्वारा आचार्यत्व अथवा यश की लिप्सा है।

प्रो० लालजीराम शुक्ल का भाषण

संसार में प्रचलितरूप से चार प्रकार की चिकित्सा-विधियों का मनोविज्ञानशाला में उनका किस प्रकार उपयोग होता है यह बताया। अपने जीवन की अनेक मानसिक संभटों की चर्चा करते हुए बताया कि इन्हींके कारण श्रीस्वामी प्रज्ञानपाद के कहने पर उन्होंने मनोविज्ञान का विस्तृत रूप से अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि जो ग्रन्थियाँ उनके मन में विद्यमान हैं उनका अभाव देश के और भी बड़े बड़े व्यक्तियों में भी नहीं है। और ये मानसिक ग्रन्थियाँ उन्हें भी बेचैन किये हुए हैं तथा संभट में डाले हुए हैं, वे अपनी परीक्षा से घबड़ाते हैं अथवा परीक्षा के समय के पहिले या उठी समय बीमार पड़ जाते हैं। इस प्रकार के बहुत से विद्यार्थियों की चिकित्सा हुई और उन्हें पोसाहित करने पर वे परीक्षा में अच्छी प्रकार सफल हुए।

साधारणतया मानसिक चिकित्सा चार प्रकार की होती है। १ निर्देशन विधि—साधारणतया हमारे यहाँ भाड़फूँक आदि से पहिले इलाज होता रहता था। पंडे और ओम्के लोग इस प्रकार भाड़फूँककर बहुत से मानसिक अथवा शारीरिक रोगों का उपचार भी किया करते थे। इस प्रकार की विधि को निर्देशन-विधि कहते हैं। आधुनिक समय में इसका उपयोग श्रीदीपनारायण सिंहजी फैजाबाद में करते हैं। वे लगभग तीस वर्ष से इस प्रकार की चिकित्सा कर रहे हैं। उनसे बहुत से लोगों का लाभ भी हुआ है। डा० दुर्गाशंकर नागर ने भी इसी प्रकार की चिकित्सा-विधि का उपयोग किया है। हिस्टीरिया के रोग का पहिले यही इलाज था और आज भी हिस्टीरिया के लोगों पर इसका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा करता और उन्हें इस विधि से लाभ नहीं होता। इससे घासिक वृत्ति के मनुष्यों को अथवा जो अधिक जानते समझते नहीं हैं उनको ही अधिक लाभ होता है।

हमारे यहाँ भी इस विधि का उपयोग किया जाता है इससे कई प्रकार के जटिल रोगों की चिकित्सा की गई और बहुत से लोगों को लाभ हुआ है। यह अचेतन मन पर सीधा प्रभाव डालने की विधि है। अचेतन मन (हृदय) में अनंत शक्ति होती है। हमारी कोई बात अथवा किसी प्रकार का आचरण किसी के अचेतन मन को जहाँ तक प्रभावित करता है उतना ही उस व्यक्ति को लाभ होता है।

इस विधि का उपयोग बड़ी अवस्था तक विस्तर पर पेशाब करनेवाले बालकों, हकलाने वाले और अन्य कई प्रकार के रोगियों पर किया गया है। विस्तर पर पेशाब करनेवाले बच्चों में आत्मविश्वास की कमी, चिड़चिड़ापन और अनेक प्रकार की मानसिक संभटें रहा करती हैं। जब ऐसे बच्चों को घृणा और भर्त्सना नहीं प्रेम और सम्मान दिया जाता है तो वे अच्छे हो जाते हैं। साधारणतया ऐसे बालकों को मारा-पीटा जाता है और उनकी अनेक प्रकार से भर्त्सना की जाती है। यह एक प्रकार की मूल है। जब हम उनका सम्मान करते हैं तो उनमें भी आत्मसम्मान की भावना उत्पन्न हो जाती है और वे अपना उत्तरदायित्व समझने लगते हैं और धीरे धीरे उनकी वह आदत पीछा छोड़ देती है। विलियम ब्राउन महाशय ने अपनी पुस्तक 'साइकालाजी एण्ड साइकाथेरेपी' में लिखा है कि उनकी तीस वर्ष की सिगरेट पीने की पुरानी आदत निर्देश देने से ही छूटी।

२. मानसिक उपचार की दूसरी विधि मनोविश्लेषण विधि है—इसमें रोगी की जीवनी का अध्ययन करना पड़ता है, उसके स्वप्नों को जानना और शैथिलीकरण की अवस्था में उसकी बातों को सुनना पड़ता है। इसके रोगी के रोग का कारण जाना जाता है। यह एक कठिन कार्य है और बड़ा ही सूक्ष्म है। इसमें चरित्र की पढ़ता की बड़ी आवश्यकता है। क्योंकि मनोवैज्ञानिक को युवतियों और युवकों से एकान्त में

मिलना पड़ता है और जहाँ से कोई उनकी बातें न सुने ऐसे स्थान में बार-बार उनसे बहुत समय तक बातें करनी पड़ती हैं। साधारणतया चिकित्सक जिसकी वह चिकित्सा करता है उन्हें प्रेम हो जाया करता है और ऐसे अवसरों पर चिकित्सक को सँभलने की बड़ी आवश्यकता रहती है।

३. मानसिक चिकित्सा की तीसरी विधि आत्मनिर्देश विधि है। इसमें हम अपने आपको निर्देश देते हैं। सब धर्म आत्मनिर्देश है। जप भी एक प्रकार का आत्मनिर्देश है क्योंकि जिसका बार-बार स्मरण किया जाता है उसकी बारंबार भावना होने पर मन उस निर्देश को कभी न कभी ग्रहण करने में समर्थ होता है। अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि आदि वेदान्त वाक्य भी एक प्रकार के आत्मनिर्देश हैं। बार बार इनका ध्यान करने से मन के तद्रूप हो जाने की संभावना है।

जीवन में सफलता और रोगों से छूटने के लिये आत्मनिर्देश की विधि अत्यधिक सहायक होती है। जो अपने मनमें सदा ही अपने विषय में हीनता और असामर्थ्य का विचार लाते रहते हैं वे वास्तव में वैसे ही हो जाते हैं। अपने आपको सफल होने और सामर्थ्य के निर्देश देने से हम समर्थ और सफल होते हैं। अंग्रेजी में एक कहावत है 'जो अपने आप में किसी कार्य को करने के सामर्थ्य का अनुभव करता है वह उस कार्य को करने में सफल होता है'। पर इस प्रकार का अभ्यास शैथिलीकरण की अवस्था में ही लाभदायक होता है। मनके अस्तबृद्ध की अवस्था में इसका फल उल्टा ही हो सकता है।

४—मानसिक चिकित्सा की चौथी विधि आत्म-विश्लेषण विधि है। यह एक प्रकार का योगाभ्यास है। इसे पतंजलि दर्शन में प्रत्याहार के रूप में बनाया गया है। यह मानसिक शैथिलीकरण (mental relaxation) का अभ्यास है। भगवान बुद्ध के मार दर्शन का रहस्य यह मानसिक शैथिलीकरण ही है। जब हम अपने मनको शिथिल अवस्था में छोड़े देते हैं और उसकी सभी प्रकार की भावनाओं को आबाधित रूप से मनमें आने का अवसर देते हैं तो सभी मानसिक ग्रन्थियों का रेचन हो जाता है और हमारे मन का खिचाव हट कर शान्ति हो जाती है। यह अपने आपको देखना अथवा आत्मज्ञान प्राप्त करना है। इसमें अपने किसी भाव से वृणा नहीं करना चाहिये और न किसी से डरना चाहिये। तब सभी प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियाँ हमारे चक्ष में हो जाती हैं और हमारी मानसिक शक्ति की वृद्धि हो जाती है। इसे आनापानसति का अभ्यास कहते हैं। इसे सखी भाव का अभ्यास भी कहा जा सकता है।

एक सच्चे दार्शनिक सिद्धान्त की अनुपस्थिति में सम्पूर्ण मानसिक स्वास्थ्य लाभ संभव नहीं। आत्मा अनंत है उसमें अनंत शक्ति है। इस विश्व को चलाने वाला एक न्यायी तत्त्व है। ऐसा विश्वास आवश्यक है और मानसिक रोगों के अध्ययन में इस बात को सिद्ध करना है।

इस देश की गिरी मानसिक अवस्था को उठाना ही मनोविज्ञानशाला का ध्येय है।

मन का नैतिक विकास

आधुनिक मनोविज्ञान की शिक्षा है कि मनुष्यका मानसिक विकास धीरे-धीरे होता है। जो व्यक्ति अपने आपका अथवा बच्चों का शीघ्रता से मानसिक विकास करना चाहता है वह उसमें प्रगति न कर उसमें उलझने उत्पन्न करता है। बालक के समय के पूर्व आदर्शवादी बनाने से वह अपनी कमजोरियों के प्रति आँख मूँदना सीख जाता है। कभी कभी इसके कारण सम्पूर्ण राष्ट्र पलायनवादी बन जाता है।

बहुत से बालकों के मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ इसलिए उत्पन्न हो जाती हैं कि उनके माता पिता आदर्शवादी थे। वे बच्चों को एकाएक महान बनाना चाहते थे। उन्हें माता पिता और अभिभावकों से उचित प्रेम नहीं मिला। कितने ही माता पिता अपने बच्चों के चरित्र की आलोचना पद पद पर करते हैं। इससे भी बालक के चरित्र का निर्माण नहीं होता। इससे बालक की हज्जा शक्ति दुर्बल हो जाती है। अत्यन्त आदर्शवादिता अपनी आन्तरिक कमी को ढँकने का उपाय है। जिन लोगों के आन्तरिक मन में आत्म हीनता की भावना रहती है वे ही बड़े बड़े आदर्शों की चर्चा करते हैं। ऐसे लोग अपने बालकों के व्यक्तित्व को ताड़ना द्वारा दुर्बल बना देते हैं। इसी के कारण बहुत ऊँचे आदर्शवादी पुरुषों की सन्तान निकम्मी हो जाती है। इस प्रकार न तो स्वार्थी व्यक्ति समाज का मौलिक लाभ करते हैं और न आदर्शवादी। दोनों ही एक प्रकार के व्यक्ति अपने आश्रित बालकों के व्यक्तित्व के उचित विकास में बाधक बनते हैं।

हमारी शिक्षा प्रणाली में सबसे महत्व की आवश्यकता शिक्षा के उचित उद्देश्य की है। रोजी कमाने के लक्ष्य को रख कर दी गई शिक्षा बालकों को स्वार्थी बनाती है। अत्यन्त आदर्शवादी शिक्षा भी बालक को मानसिक रोग के लिये तैयार करती है। आजीविका की शिक्षा देना आवश्यक है, परन्तु उससे भी आवश्यक बालक को ऐसी शिक्षा देना है जिससे वह दूसरों के हित में अपना हित देख सके। इसके लिए बच्चों को उचित भावात्मक शिक्षा देनी पड़ेगी। यह शिक्षा बालकों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने से होती है।

हमारे देश में चारों ओर पलायनवाद की मनोवृत्ति ने घर कर लिया है। हम अपनी राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक समस्याओं के प्रति उदासीन बने हुए हैं। हमारा सैन्य बल नगण्य है। इसके बिना हम रह नहीं सकते, परन्तु हमारे पास राष्ट्र को जीवित रखने का साधन नहीं है। हमारी पुरानी रुढ़िवादिता जिसके कारण हम विदेशियों के गुलाम हुए ज्यों की त्यों बनी है। आर्थिक दृष्टि से हम अमेरिका के गुलाम बने जा रहे हैं। स्वराज्य के बाद शिक्षा-प्रसार योजनायें खोखली होती जा रही हैं। शिक्षा

बच्चों के प्रति प्रेम से मानसिक लाभ

(ले०—प्रो० श्रीलालजीराम शुक्ल,)

मानसिक आरोग्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय छोटे बच्चों को प्यार करना, उनकी खिलाना, पिलाना, उनसे बातचीत करना, उनके साथ खेलना, और उनके पढ़ाने-लिखाने में मन लगाना है। इससे मनुष्य दीर्घायु हो जाता है। जो लोग बालकों को इस प्रकार की सेवा से वंचित हैं, वे जल्दी-जल्दी विस्तर पर भी पड़ा करते हैं।

जो लोग जितना ही बालकों के बारे में सोचते हैं और उन्हें किसी-न-किसी प्रकार प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं, वे अपने आपको ही सुखी और आरोग्यवान् बनाते हैं। ऐसे लोगों को अकारण चिन्ता, भय

के लिए हमारे पास पैसा नहीं है। वैज्ञानिक अनुसंधानों के बिना हम जी नहीं सकते, परन्तु देश व्यापी वैज्ञानिक शिक्षा और वैज्ञानिक उद्योगों की वृद्धि का कोई मार्ग नहीं है। इस प्रकार की स्थिति अधिक दिन नहीं चल सकती। हमारी आदर्शवादिता हमें विदेशी आक्रमण से नहीं बचा सकती और न वह हमें धन दे सकती है और न दूसरे प्रकार की शक्ति। परन्तु इस कमजोरी को भुलाने का उत्तम उपाय हमने आदर्शवादियों में पा लिया है। यह आत्म-हीनता की मानसिक ग्रन्थि की प्रतिक्रिया का परिणाम है।

मनुष्य में अपनी कमजोरियों के प्रति ऑल मूँदने की आदत क्यों आती है ? इस प्रकार की आदत का कारण उसके बचपन के संस्कार होते हैं। जब एक और बच्चे को ऊँचे ऊँचे आदर्श बताए जाते हैं और दूसरी ओर उसकी इच्छाओं का बरबस दमन होता है तो उसका मानसिक विकास रुक जाता है। वह फिर अपने आपको धोखे में रखने वाला व्यक्ति बन जाता है। ऐसे लोग छोटी छोटी मूलों के लिये अपने आपको कोसते हैं और इस प्रकार अपना मनोबल खो देते हैं। फिर अपनी आत्म-श्लाति को भुलाने के लिये आदर्शवादी अथवा पर उपदेशक बन जाते हैं। उनके उपदेश से बालकों में उन्हीं का मानसिक रोग उनकी इच्छा के विरुद्ध ही उत्पन्न हो जाता है।

भारतवर्ष के लोग अपने आपको जितना कोसते हैं, उतना दूसरे किसी राष्ट्र के लोग अपने आपको नहीं कोसते। नेता लोग जनता को निकम्मा पा रहे हैं और जनता नेताओं को। एक दूसरे के प्रति सद्भावना और विश्वास उठता जा रहा है। यह अविश्वास का रोग विद्यार्थियों में भी फैल रहा है। इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण खोजने पर हम उसी आदर्शवादिता को पाते हैं जिसके कारण यह देश स्वतन्त्रता के बाद किसी ओर विशेष प्रगति नहीं कर पाया। महलों में रहने वाले लोग जब साधुओं का अनुकरण करके सादगी के जीवन की दीक्षा जनता और विद्यार्थियों को देते हैं तो इसका उसके मन पर उलटा ही प्रभाव पड़ता है। हमें दूसरों की वह शिक्षा कदापि न देना चाहिए जिसका पालन हम स्वयं नहीं कर सकते। फिर शिक्षा देते समय व्यक्ति के मानसिक विकास को ध्यान में रखना आवश्यक है।

भारतवर्ष एकाएक साधु देश नहीं बन सकता। मनुष्य की इच्छाओं का विकास धीरे-धीरे होता है। जब हम अपने देश को दूसरे बड़ों देशों के समान धन और विद्या बल से सम्पन्न नहीं कर लेते तब साधुता की शिक्षा कोरी पलायनवाद की शिक्षा है। भारतवर्ष की स्वतन्त्रता का अर्थ सम्पूर्ण आत्म-विकास की स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता तभी फलित हो सकती है जब हम अपने जीवन का आदर्श दमनात्मक पलायनवादी न बना कर रचनात्मक और विकासवादी बनायेंगे। सुख की बात है धीरे-धीरे राष्ट्र अब उसी ओर जा रहा है, नव युवकों के विचार उसी ओर बढ़ रहे हैं।

और हृदय के रोग नहीं होते। लेखक के उपचार में जितने ही हृदय के रोगी आये उन सभी के जीवन में बच्चों के प्रति प्रेम की कमी पाई गई। इनमें से कितनोंने तो अपने बच्चों को गोदी में भी नहीं लिया था, जो लोग हमारी चिकित्साविधि को मानकर बच्चों को प्यार करने लगे और सदा उनको अपने साथ रखने लगे, उनके हृदय का रोग जाता रहा।

जब रोगी को अकारण चिन्ता और मानसिक अशान्ति प्राप्त होती है, तब छोटे बच्चों के साथ बातचीत करने, उनके साथ खेलने, उन्हें 'क' 'ख' 'ग' सिखाने और उनका चिन्तन करने से यह सरलता से दृढ़ हो जाती है।

महर्षि व्यास को अपने ब्रह्मप्रेम में काफी अशान्ति हुई। वे इस समय तक सभी पुराणों का निर्माण कर चुके थे। वेद-वेदान्त आदि सभी का अध्ययन और उन पर ग्रन्थ-निर्माण हो चुका था; परन्तु उनकी ब्रह्म विद्याके ज्ञान ने उन्हें मानसिक शान्ति नहीं दी। वे फिर नारद जी के पास गए और उनसे मानसिक शान्ति के उपाय को उन्होंने पूछा। नारदजी ने भगवान् श्रीबालकृष्ण के गुणानुवाद गाने के लिए उनसे कहा। इसके परिणाम-स्वरूप व्यासजी द्वारा श्रीमद्भगवत् का निर्माण हुआ। इसके निर्माण से न केवल व्यासजी की ही मानसिक व्याधि जाती रही, वरन् उस समय से आज तक के करोड़ों नर-नारियों की मानसिक अशान्ति को दूर करने के लिये यह पुस्तक औषधि बन गई। श्रीमद्भगवत् का दशम स्कन्ध वास्तव में मानसिक आरोग्य की दृष्टि से बड़ा उपयोगी है। महामना पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजी इस स्कन्ध का बार-बार पारायण करते रहते थे। मालवीयजी की भागवत में लगन का ही परिणाम है कि वे अपना सब-कुछ काशी विश्वविद्यालय के निर्माण में दे सके। वे सदा बालकों की शुभ-कामना के चिन्तन में ही लगे रहते थे। वे कहा करते थे कि मैं आप सभी लोगों में नारायण को देखता हूँ।

जिन लोगों को यह स्थिति जीवन का अवसर नहीं है, उन्हें श्रीकृष्ण भगवान का गुणानुवाद गाना मानसिक दृष्टि से बड़ा ही लाभदायक होता है। अविवाहित और असफल यहस्थों के जीवन को सफल बनाने की सर्वोत्तम औषधि श्रीबालकृष्ण की उपासना है। यह न केवल धार्मिक दृष्टि से लाभप्रद है वरन् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी लाभदायक है। जयदेव, सूरदास और मीराबाई के जीवन की सफलता श्रीबालकृष्ण की उपासना में ही है।

जो व्यक्ति अपनी श्रीबालकृष्ण की उपासना के दृष्टिबिन्दु को प्रसारित कर सकते हैं, वे और भी धन्य हैं। सभी बच्चों में श्रीकृष्ण भगवान को देखना, सभी बच्चों से प्यार करना, उनकी सेवा करना मनुष्य के जटिल भावों का सुलझाता और उनके मानसिक क्लेशों का निवारण करता है।

जो शिक्षक भद्रापूर्वक बालकों को पढ़ाता है, वह हजारों मानसिक रोगों से अपने आपको मुक्त कर लेता है। बच्चे का हृदय सरल होता है। वह सच्चे प्यार को एकदम परख जाता है और ऐसे व्यक्ति को सहज भाव से स्नेह करने लगता है। इस स्नेह का जादू के समान असर प्यार करनेवाले व्यक्ति पर पड़ता है और उसकी जटिल मानसिक व्याधियाँ क्षण भर में नष्ट हो जाती हैं।

हजरत ईसा के पास जब छोटे-छोटे बच्चे दौड़ कर आ रहे थे, तब लोग उन्हें रोकने लगे। वे समझे कि ये लड़के अपनी उद्दण्डता से ईसा को रंज कर देंगे; परन्तु ईसा ने कहा कि 'तुम इन बच्चों को मेरे पास आने से मत रोको, क्योंकि स्वर्ग का राज्य वास्तव में इन्हीं का है और मैं सचमुच में तुमसे यही कहता हूँ कि जब तक तुम भी अपने हृदय में बच्चों-जैसे नहीं बन जाओगे, तब तक तुम्हें स्वर्ग के भीतर नहीं जाने दिया जायगा।' महात्मा ईसा बच्चे को कितने महत्व से देखते थे इससे यह प्रत्यक्ष है। संसार के प्रायः सभी सन्त बच्चों से प्यार करते चले आये हैं और उन्होंने अपने-आपको बच्चे जैसा बनाने की चेष्टा

की है। दुनियादारी हमें छुल सिखाती है। इससे कुछ लौकिक सफलता हमें अवश्य मिलती है। परन्तु हमारा हृदय हमें कोसने लगता है। हमें फिर आत्म-प्रसाद नहीं मिलता। हममें अनेक प्रकार के अकारण भय, चिन्ता और सन्देह आने लगते हैं। ऐसी अवस्था में हम अपना आत्म-विश्वास खो देते हैं।

सफल शिक्षक वही व्यक्ति हो सकता है, जो बच्चों को देवरूप मानता है। फ्रान्स के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री रुसी महाशय के इस कथन में केवल कविता और कल्पनामात्र ही नहीं है कि परमात्मा के हाथ से जो वस्तु आती है, वह सुन्दर होती है और मनुष्य के हाथ में ही वह बिगड़ जाती है। अतएव बालक को अद्वा की दृष्टि से देखना न केवल बालक के प्रति अपना कर्तव्य-पालन करने में सहायक होता है वरन् उस परमात्मा के प्रति अपनी आस्तिकता प्रकट करने का यह निश्चित रूप है, जिस परमात्मा ने सारी सृष्टि को रचा है। सच्चे शिक्षक बालक से न केवल प्रेम करते हैं, वरन् उन्हें अद्वा की दृष्टि से देखते हैं। वे बालकों की तोतली वाणी में देववाणी की ध्वनि पाते हैं। जो व्यक्ति बालककी साधारण सी बातों में जितना रस लेता है, वह अपने हृदय की शान्ति को उतना ही अधिक स्थिर बनाता है। छोटे बच्चों का लालन-पालन और उनका पढ़ाना जितना स्वास्थ्य की दृष्टि से लाभप्रद है, दूसरा कोई उतना लाभप्रद नहीं है।

लेखक के एक मित्र को एक बार अकारण मानसिक विषाद उत्पन्न हो गया। इनकी आयु चौसठ वर्ष की थी। वे स्वयं मानसिक रोग की चिकित्सा आयुर्वेदिक ढंग से किया करते थे और आयुर्वेद के बड़े ही विख्यात पण्डित हैं। इनसे कई दिनों तक बातचीत की गई। इनके स्वप्नों का अध्ययन किया गया और इनकी जीवनगाथा सुनी गई। जिस बात ने उन्हें सबसे अधिक लाभ पहुँचाया, वह बालकों का अपने समीप रखना और उनको पढ़ाने में मन लगाना था। जब कुछ दिन बाद लेखक उनके पास गया और उनके स्वास्थ्य लाभ करने के अनुभव के बारे में उनसे पूछा, तब उन्होंने कहा कि छोटे बच्चों को पढ़ाते-पढ़ाते मुझे बच्चों के मन की गति समझ में आई। मैंने बच्चों के मनको वश में करने के उपाय इसे जान कर निकाला। फिर, जिस प्रकार बच्चों के मन को वश में करने की बात मैंने सीखी, उसी प्रकार अपने बाल मन को भी वश में करने का मार्ग मुझे मिल गया। मैंने देखा कि जिस प्रकार बच्चों का मन हठी होता है, उसी प्रकार वृद्धों का आन्तरिक मन भी हठी होता है। ऊपरी मन की विद्वत्ता इस हठ को मिटाने में समर्थ नहीं होती। जो बात बाल-मन पकड़ लेता है, वह उसे लाख मना करने पर भी नहीं छोड़ता। उससे ऐसी बात को छुड़ाने के लिए वही उपाय करना पड़ता है, जो बालक को वश में रखने के लिए रचना पड़ता है।

वास्तव में बालक के साथ स्नेह करने से अपनी अन्तरात्मा का उनके साथ तादात्म्य हो जाता है। फिर जैसे-जैसे बालक अपने जीवन में उन्नति करता जाता है, वैसे वैसे हम अपने-आप ही उन्नत होते जाते हैं। इस प्रसंग में एक अंग्रेजी साहित्यकार का अनुभव उल्लेखनीय है। इस साहित्यकार को सिगरेट पीने की बड़ी आदत थी। वह इसे छोड़ना चाहता था; परन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी छोड़ नहीं पाता था। जब कभी वह सिगरेट पीना बन्द करता तो उसका मन निरुत्साहित हो जाया करता था। एक बार उसके मित्र का लड़का, जिसे भी सिगरेट पीने की आदत थी, मित्र के बाहर जाने पर उसके पास रहने लगा। इस लड़के की सिगरेट पीने की आदत को उसने जान लिया। लड़का किशोरावस्थामें था। इस लड़के के प्रति इस व्यक्ति को भारी सहानुभूति हुई। उसके मन में विचार आया कि यदि यह लड़का अपनी इस आदत को इसी समय न छोड़ पाया तो वह एक जटिल आदत का दास बन जायगा और फिर मेरी तरह आत्म-म्लानि का दुःख भोगेगा। फिर इस व्यक्ति ने उस बालक को अपना प्रेम दिखाते हुए और अपनी मानसिक जटिलता को कहते हुए सिगरेट पीने की आदत को छोड़ने की सलाह दी। लड़के को धीरे-धीरे

सिगरेट पीना छोड़ने का मार्ग बतलाया। उसे किसी रचनात्मक कार्य में सहानुभूतिपूर्वक लगाया। धीरे धीरे तीन-चार महीने में उस बालक ने सिगरेट पीना छोड़ दिया। उसके मित्र के आने पर वह अपने घर चला गया, परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि अब जब इस व्यक्ति ने अपनी सिगरेट पीने की आदत को छोड़ने का संकल्प किया, तब वह अपने संकल्प को पूरा करने में बिना किसी कठिनाई के सफल हो गया। इस समय उसकी इच्छाशक्ति इतनी बलवान हो गई कि वह जटिल आदत उसे अपने कैद में न रख सकी।

• उक्त उदाहरण से हम देखते हैं कि बालक में किसी प्रकार की सहानुभूतिपूर्वक सुधार करने के प्रयत्न से हम स्वयं ही अपने आप सुधर जाते हैं। यह कार्य हमारे अनजाने में हो जाता है, परन्तु इस प्रकार का सुधार का कार्य अभिमानपूर्वक न होना चाहिए। बालक को अपने से अच्छा समझते हुए होना चाहिए। साधारणतः बालक हमारे सुधारक गुरु बनकर ही आते हैं। जो दूसरों को नीचा मानकर उन्हें सुधारना चाहते हैं, वे व्यक्ति न तो दूसरों में, न अपने-आपमें कोई सुधार कर पाते हैं। इस प्रकार की सुधार की मनोवृत्ति अपनी ही कमजोरियों का दूसरों पर आरोपित करना मात्र है। दूसरों में देवत्व देखना ही अपने-आपमें देवत्व-भाव का जागरण करना है। दूसरे में शैतान का देखना अपने में शैतान को बली बनाना है।

लेखक के एक मित्र एक बार अकारण पेट के रोग और अशान्ति से पीड़ित हो गए। ये स्वयं प्रसिद्ध वैद्य हैं, परन्तु अपने इस रोग की चिकित्सा करने में वे असमर्थ रहे। उनका मनोविश्लेषण और निर्देश-विधि से उपचार किया गया। इससे कुछ लाभ उन्हें अवश्य हुआ, परन्तु उनकी स्थायी लाभ जीवन के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित करने से हुआ। ये पहले अपने आपको एक महान व्यक्ति मानते थे। उन्होंने लाखों रुपया अपने पुरुषार्थ से कमाया था। उनकी सफलता ही अब उनके लिए भार-स्वरूप हो गई थी। वे अपनी इस महत्ता को भुला नहीं सकते थे। उन्हें बच्चों को खिलाने और उनके साथ समय बिताने की सलाह दी गई। उन्होंने धीरे-धीरे अपने-आपको बच्चों का साथी बना लिया। एक दिन लेखक ने देखा कि वे अपनी एक नतिनी को कंधे पर लिये खूब मजे से सब लोगों में टहला रहे थे। वे कहने लगे 'पण्डितजी! यह बालिका मुझे जीवन प्रदान कर रही है। पहले जिन बच्चों से मैं दूर भागता था, अब वे ही मुझे प्यारे लगे हैं।' उस समय न तो उन्हें मानसिक कष्ट था और न पेट का रोग।

बच्चा निरभिमान होता है। सभी रोगों की वृद्धि अभिमान के कारण होती है। वास्तव में रोग मनुष्य के पास उसके अभिमान को कम करने के लिए ही आता है और जब वह हमें बच्चे-जैसा निरभिमान बना देता है, तब रोग खला जाता है। अपने अभिमान खोने का सर्वोत्तम उपाय बच्चों के विषय में चिन्तन करना और उनके साथ कुछ खेलना है। इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध राजा अलफ्रेड प्रत्येक रविवार को गुप्त रूप से अपनी राजधानी से पचास मील दूर जाकर एक साधारण घर का अतिथि बन जाता था और वहाँ के छोटे-छोटे बालकों के साथ ऐसे खेलने लगता था, मानों वह भी बालक है। कभी-कभी वह इन बच्चों को पीठ पर रख कर घुटने और हाथों के बल चलता और वे उस पर बोड़े-जैसे सवारी करते थे। इससे उसके मन में इतनी प्रसन्नता हो जाती थी कि वह सप्ताह भर अपने राज्य भार को सरलता से संभाल लेता था।

वास्तव में बच्चा एक शक्ति का केन्द्र है। जो बच्चे की सेवा इस भाव से करता है कि उससे उसे शान्ति और आनन्द मिलता है तथा उसकी मानसिक शान्ति बढ़ती है तो उसे ये लाभ अवश्य होते हैं। बच्चे के मन में अन्तर्द्वन्द्व नहीं होता, इसलिए उसकी शक्ति व्यर्थ खर्च नहीं होती है। बच्चे के सम्पर्क में आते ही मनुष्य का मन भी वैसा ही सरल बन जाता है। जिस भाव से हम प्रभावित रहते हैं, उसी

कला और मानसिक विकास

(प्रो० रामचन्द्र शुक्ल एम० ए०, एम० एड०)

कला मनुष्यकी आत्माभिव्यक्तिका सर्वश्रेष्ठ माध्यम है, इसमें उसे आनन्द मिलता है और समाज भी उसके अनुभवसे लाभ उठाता है। कलाके द्वारा मनुष्यका व्यक्तित्व ऊँचे उठता है। मनुष्यके जीवन में अनेक प्रकारकी इच्छायें होती हैं, परन्तु उसकी सभी इच्छायें पूरी नहीं हो पातीं। जो इच्छायें पूरी नहीं हो पातीं उनका दमन भी सरलता से नहीं होता। वे बनी रहती हैं। कभी-२ वे हमारे चेतन मस्तिष्क से हटकर अचेतन मनमें ऐसी जा समाती है कि हमें उसका ज्ञान भी नहीं हो पाता कि इच्छायें हमारे मन में दबी हुई हैं। बहुतसी ऐसी इच्छायें होती हैं जिन्हें समाज सहन नहीं करता और जिन्हें हम समाजके बन्धनके कारण पूरा नहीं कर पाते, यदि इन इच्छाओं को पूरा भी करना चाहें तो संभवतः समाजकी मर्यादा उससे नष्ट हो जाय। अतः इन इच्छाओं को हमें दबाना पड़ता है। दूसरी वे इच्छायें हैं जिन्हें हम पूर्ण तो करना चाहते हैं पर जिन्हें पूरा करने में हम असमर्थ हैं इन्हें भी हमें हार कर दबाना पड़ता है। इस प्रकार की इच्छाओं को यदि हम मस्तिष्कसे पूर्णतः निकाल फेंके कि वे अचेतन मन में भी घुसने न पायें तो मनुष्यका मस्तिष्क बहुत ठिकाने से कार्य कर सकता है पर ऐसा बहुत कम हो पाता है। इस कार्यमें जो व्यक्ति जितना सफल होता है उसका जीवन उतना ही सुडौल होता है और समाज में भी सुडौल व्यक्तियों की ही आवश्यकता है।

इस प्रकार की सुप्त इच्छायें हमें स्वप्न में भी जागरूक ज्ञात होती हैं परन्तु यदि इन इच्छाओं की पूर्ति स्वप्न में भी सदैव हो जाय करे तो वे अपने आप नष्ट हो जाती हैं या मनुष्य अपने कल्पना जगत में इनकी पूर्ति कर सकता है। यदि हम यह कल्पना करें कि हम किसी राजा से कम नहीं तब भी हमें सुख की प्राप्ति हो सकती है। यद्यपि इस ढंग की कल्पना का करना भी सभी के लिये संभव नहीं है परन्तु यह भी एक ढंग है।

कल्पनायें दो प्रकार की हो सकती हैं, एक तो मौन कल्पना या मन ही मन में पूरी कल्पना कर डालना और दूसरी कल्पना का रूप कला है। यही कारण है कि कुछ लोग कला को कल्पना ही समझते हैं। कला में हमारी कल्पना का एक साकार रूप हो जाता है और मन ही मन कल्पना करने वाले व्यक्ति दार्शनिक हो जाते हैं। यह कहना की दार्शनिक की कल्पना और कलाकार की मूर्तिवत् कल्पना में कौन अधिक उपयोगी है कठिन है परन्तु दार्शनिक की भौति कल्पना करने से अधिक सरल कला की कल्पना जान पड़ती है। इच्छित वस्तु यदि मूर्ति रूप में हो जाती है तो हमें अधिक सुख और संतोष होता है। जिस प्रकार निराकार ईश्वर की कल्पना में हमारा मन सरलता से नहीं लग पाता किन्तु साकार ईश्वर के मूर्ति या चित्र से अधिक संतोष प्राप्त होता है। उसी प्रकार कला में दर्शन की कल्पना से अधिक संतोष मिलता है।

भावना को हम चरितार्थ भी करते हैं। बच्चे की सरलता बार-बार मन में लाने से, उसके प्रेम का चित्र मन में बार-बार अंकित करने से हम स्वयं सरल चित्त के हो जाते हैं और हमारा सारा स्वत्व प्रेम से पूर्ण हो जाता है। जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है, वहीं शान्ति और वहीं सच्चा स्वास्थ्य है। प्रेम और परमात्मा एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। प्रेम परमात्मा की शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् में नाम का भेद है, तत्त्व का नहीं।

इस प्रकार कलाकी कल्पना के द्वारा हम अपनी बहुतसी इच्छाओं की पूर्ति कर अपने व्यक्तित्व को सुदौल बना सकते हैं। अब हम कह सकते हैं कि कला मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावित कर उसे परिवर्तित और परिमार्जित करती है।

कला मन के भावों को व्यक्त करने का एक साधन है। सामान्यतः लोग अपने भावोंको मौखिक या शब्दों में लपेट कर व्यक्त करते हैं और यही व्यक्तीकरण समाज में अधिक प्रचलित भी है, यह हम बचपनसे ही सीखते या सिखाये जाते हैं। इस कला को हम बोलने की कला कहते हैं, इसमें यह आवश्यक नहीं कि सभी निपुण ही हों। देखा गया है कि बोलने की अपेक्षा बहुत से लोग लिखकर अपने भावों को अधिक सरलता और सफ़लता से व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार जो बोलकर या लिख कर अपना भाव भली भाँति व्यक्त नहीं कर पाते और जिनमें व्यक्त करने की उत्कट अभिलाषा है वे उसे अन्य कलाओं के माध्यम से व्यक्त करते हैं और उसमें सौंदर्य भी होता है; तथा हाव भाव, रस, चित्र कला तथा मूर्ति कला इनका रूप है। मैं ही अपने विद्यार्थी जीवन में कक्षा में प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर भली भाँति ज्ञात होने पर भी भाव को व्यक्त करने में असमर्थ रहता था, कारण शिक्षक नहीं जान सकता था, वे यही समझते कि मैं तैयारी कर के कक्षा में नहीं आता। इस प्रकार के विद्यार्थी बहुतसे होते हैं। इसका कारण भय और लज्जा भी हो सकता है। इस प्रकार हमें बहुत असुविधा होती है जब इच्छा रहते हम अपने भावों को बोल चाल या लेखन के द्वारा व्यक्त नहीं कर पाते, और यह स्थिति मानसिक विकार का कारण भी बन सकती है ऐसी स्थिति में स्वभावतः मनुष्य किसी न किसी दूसरी कला का आँचल पकड़ता है और उसके द्वारा वह अपने भावों को निपुणता से व्यक्त कर लेता है। प्रयोग से देखा गया है नेत्रहीन लोगोंके कर्ण ही अधिक सचेत होते हैं, अर्थात् नेत्र की कमी कानके गुणों की वृद्धि करती है। इसी प्रकार भाषा की जो अपने में कमी पाते हैं वे कलाओं में अपनी शक्ति का अधिक प्रसार देखते हैं। परन्तु ऐसे भी मनुष्य पाये जाते हैं जो न भाषा में अपने को व्यक्त करते हैं न कलाओं में ही अपने को भली भाँति व्यक्त कर पाते हैं।

एक बार एक अध्यापक ने अकारण ही मुझे पीट दिया, वैसे तो वे इस क्रिया में विख्यात ही थे। सभी विद्यार्थी • उनसे ऐसे डरते थे जैसे लोग जंगली जानवरों से डरते हैं, किन्तु मेरे साथ यह घटना पहली बार ही घटी थी, उस छोटी उम्र में भी मैंने यह अनुभव किया कि मैं निरपराध हूँ। मैं खून पीकर रह गया। बदले के लिये सोचना या उनसे कुछ कहना असम्भव था। भाव व्यक्त करने की क्षमता मुझमें न थी। मैं उस समय भी चित्र बनाता था, व्यंग चित्र भी प्रायः बनाया करता था, कक्षा में पीछे बैठे २ सिसकते हुये मैंने उनका व्यंग चित्र बना ही डाला। अध्यापक का सिर उल्टी सुराही तथा कक्षा के बालक डंडोसे उसे फोड़ रहे हैं। चित्र बन जाने पर मेरे आँसू बंद हो गये और मेरे सहपाठियों की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। कक्षा चलती रही और चित्र क्रमशः सब विद्यार्थियों के पास से घूम कर मेरे पास लौट आया। यहाँ यह विचारणीय है कि उस अध्यापक के प्रहारोपरान्त यदि मैंने अपने भावों को चित्र में व्यक्त न किया होता तो निस्संदेह उस जीव के प्रति घृणाकी मानसिक गन्धि मस्तिष्क में बन गई होती जो मिटाये न मिटती और प्रतिकार में मुझे मानसिक विकार घरोहर में मिली होता। जिसे मैं वास्तविकता के सँचे में न ढाल सका उसे चित्र की कल्पना ने पूरा किया, जिससे आनन्द मिला और मस्तिष्क में विकार न उत्पन्न हो पाया। इस तरह कला के द्वारा हम अपने मन की छिपी इच्छाओं को बाहर निकाल फेंकते हैं। यहाँ घृणा और क्रोध प्रमोद में परिवर्तित हो गया। जिन बालकों ने मेरे उस व्यंग चित्र को देखा था वे आज भी उस अध्यापक को फूटी सुराही के नाम से स्मरण कर हँस लेते हैं।

कला का कार्य केवल इन विकारों का बाहर निकाल फेंकना या इनका परिवर्तन करना ही नहीं है वरन् इसके द्वारा हम बहुत से उपयोगी उद्देश्यों तथा भावनाओं को अपने में संचित करते हैं। चित्र कला का कार्य करने में सबसे बड़ा सहयोग भावनाओं और उद्देश्यों का होता है। जब तक हम किसी उद्देश्य या भावना से पूर्ण प्रेरित नहीं होते, चित्र रचना हो ही नहीं सकती। जो चित्र ऐसी स्थिति में नहीं बनाए जाते वे कला-कृति ही नहीं कहे जा सकते, न उसका कोई महत्वपूर्ण स्थान ही हो सकता है। गोस्वामी तुलसीदास ने राम के चरित्र की कल्पना की, भक्ति में अपने को डुबो दिया और तब उनकी कल्पना काव्य के माध्यम से साकार हो पाई। उनकी एक एक पंक्ति से भक्ति का भाव छलकत है। पहले उनका मस्तक भक्ति रस से भीग गया और उन्होंने राम चरित्र को अपनी कल्पना का अंग बनाया, राम की वीरता, उदारता, कर्तव्य परायणता, लोक हित चिन्तन, हनुमान की सेवा तथा भक्ति, सीता की पवित्रता, सभी गुणों का गोस्वामीजी ने दर्शन किया उनको अपने में संचित किया, उस पवित्र चारा में डूबे, उन्हें अपनाया, और फिर कला के माध्यम से राम चरित्र के रूप में उन्हें व्यक्त किया इस प्रकार उन्होंने सारे समाज को निर्मल तथा पवित्र बना दिया। ठीक इसी तरह प्रत्येक कलाकार पहले सभी कल्याणकारी उद्देश्यों, भावनाओं को अपने में संचित करता है तभी कला की रचना कर पाता है।

इस प्रकार प्रत्येक कलाकार अपने व्यक्तित्व को सर्व प्रथम ऊँचा उठाता है, फिर उनका व्यक्तिकरण कला के द्वारा करता है। चित्रकार एक पुष्प की रचना करने से पूर्व उसकी कोमलता और सुन्दरता से अपने मानसको भर लेता है, फिर रचना करता है। सृष्टि की प्रदान की हुई शक्तियों, भावनाओं को अपनाता है और फिर उन्हीं भावों से प्रेरित वह उन्हें साकार करता है। वह प्रकृति से पक्षियों की स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता, विशाल पर्वत मालाओं से उच्चता, अडिगता तथा गंभीरता, महासागरों से गहराई-गहनता, हरे भरे वृक्षों से निर्मलता, कोमलता इन सभी गुणों को अपनाकर तब कला का निर्माण करता है। जिस रस की उत्पत्ति उसे अपनी रचना में करना है, उससे उसे मलीमाँति सींचना पड़ता है। तब उसका स्थायी रस उसकी संपत्ति हो जाता है। इस प्रकार साधारण से उसका व्यक्तित्व ऊपर उठ जाता है।

नाट्य कला में पात्र जिस चरित्र को लेता है उसे वह तब तक सफलता से नहीं व्यक्त कर सकता जब तक वह मंच पर यह अनुभव न करे कि वह स्वयं वही चरित्र है। पात्र केवल यह अनुभव ही नहीं करता वरन् उस चरित्र के सभी गुणों, उन भावनाओं और उद्देश्यों को अपने में जुटाता है और उससे प्रेरित होकर तब रंगमंच पर आता है और दर्शकों को भी उन्हीं भावों में ओत प्रोत कराता है। नाटक के पात्र इस प्रकार के मनोवैशेषों और उद्देश्यों को बार बार व्यक्त करते करते अपने जीवन में वह उसी चरित्र की छाया देखने लगते हैं। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं कि चैतन्य महाप्रभु का अभिनय करते करते वे व्यक्ति भक्ति भाव से इस प्रकार प्रेरित हुए कि वह स्वयं भक्त हो गए या संन्यासी हो गए। इसको तो मनोविज्ञान भी मानता है। एक बार हकले का अभिनय करने से वह पात्र स्वयं हकलाने लग गया। आधुनिक चलचित्र जगत के विख्यात अभिनेता पृथ्वीराज कपूर ने बहुत से उच्च चरित्रों का अभिनय करके स्वयं के चरित्र को उच्च बना लिया है। यही सिद्धान्त प्रत्येक कला के साथ जुड़ता है और चित्र कला भी इससे न्यून नहीं है।

वचन और मानसिक रोग

(पशुपति नाथ मुकुर्जी एम० ए०)

मनुष्य के अनेक प्रकार के मानसिक रोगों की जड़ उसके वचन के संस्कारों में रहती है। मानसिक रोग कई प्रकार के होते हैं। दूसरों की आलोचना का भय, अत्यधिक स्वार्थीपन, आत्म विश्वास की कमी, मानसिक बेचैनी, अकारण भय और चिन्ता तथा अनेक प्रकार के भ्रम बहुत से सामान्य लोगों में देखी जाती है। कभी कभी मानसिक रोग के बाहरी लक्षण भी होते हैं। उन्माद, मूर्छा, सिर की पीड़ा, हृदय की धड़कन, दमा, हफलाहट, और पेट के शूल आदि शारीरिक रोगों के कभी कभी मानसिक कारण होते हैं। इन सभी रोगों से मनुष्य के व्यक्तित्व का विभाजन होता है। व्यक्तित्व के विभाजन की अवस्था में मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के हठी विचार, भ्रम, और हललत हो जाते हैं। मनुष्य जब अपनी इच्छाशक्ति से इन्हें रोकने की चेष्टा करता है तो वे और भी जटिल हो जाते हैं।

जिस व्यक्ति को मानसिक रोग होता है उसमें विवेक अपना कार्य नहीं कर पाता। कभी कभी मानसिक रोगी जिस प्रकार का काम करता है अथवा जो कुछ सोचता है उसे वह ठीक ही मानता है चाहे उसका यह कार्य अथवा विचार विवेक के कितने ही प्रतिकूल क्यों न हो, यही मनुष्य के विचार उसकी धारणाओं के अनुसार बन जाते हैं। वह झूठे कारणों को सच्चा कारण मानने लग जाता है। परन्तु कभी कभी मनुष्य एक बात को सही मानता है और उसके प्रतिकूल आचरण अथवा विचार करता है। ऐसी अवस्था में वह अपने आप से ही परेशान रहता है। इस प्रकार के विचार व आचरण का कारण उसके मन में उपस्थित विशेष प्रकार का रागात्मक भाव रहता है। यह रागात्मक भाव मनुष्य की चेतना के घेरे रहता है। अतएव वह उस में कोई परिवर्तन नहीं कर पाता।

मानसिक रोग की उत्पत्ति का प्रधान कारण मनुष्य की अहंकारमयी और प्रजननात्मक प्रवृत्तियों में असफल संघर्ष होता है। जब मनुष्य की प्रजननात्मक प्रवृत्ति मनुष्य के अहंकारमयी प्रवृत्ति का दमन करती है तब मानसिक रोग की तैयारी हो जाती है। प्रजननात्मक प्रवृत्ति काम कृत्यों में और दूसरों के प्रति स्नेह के रूप में प्रकाशित होती है। इस प्रकार का प्रकाशन कभी कभी सामाजिक धारणाओं के प्रतिकूल होता है, अतएव व्यक्ति उसे अनैतिक मानता है। अहंकारमयी प्रवृत्ति के अन्तर्गत मनुष्य की सामाजिक धारणायें और समाज द्वारा प्रशंसित होने की इच्छाएँ रहती हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने आप को भला और न्याय प्रिय मानता है। इस प्रकार की प्रेरणा उसमें समाज से आती है यह उसके अहंकार का एक अंग है। जब कोई व्यक्ति प्रजननात्मक प्रवृत्ति के वशीभूत होकर अपने ही द्वारा उचित मानी गई इस भावना के प्रतिकूल आचरण करता है तब उसे भारी आत्मग्लानि होती है। फिर वह अपनी कमी को दृष्टि से ओझल करने के लिए जान बूझ कर अथवा अनजाने ही कोई कारण खोजता है। अपने ही द्वारा माने हुए उचित नियम की अवहेलना से मनुष्य को जो आत्मग्लानि होती है उस से बचने के लिए ही अनेक प्रकार के मानसिक रोगों की सृष्टि होती है।

कितने ही बालकों को अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। इन मानसिक रोगों का कारण बालक का वह वातावरण होता है जिस में उसका लालन पालन होता है। बालक को ऐसी बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिनकी हम कल्पना नहीं करते। बालक अनेक प्रकार के दुर्व्यवहार करते हैं। इन दुर्व्यवहारों से बड़े बूढ़े लोग तो परेशान होते ही हैं, स्वयं बालक भी उस

से अत्यधिक परेशान होता है। बालक की इस प्रकार की परेशानी के दो कारण हैं—पहले तो बालक के अभिभावक उसके कोमल मन पर बार बार ये संस्कार अपने वचनों द्वारा डालने की चेष्टा करते हैं कि उसे सच्चा, भला और सदाचारी होना चाहिए; दूसरे बालक का ईश्वर के अस्तित्व में बड़ा ही बड़ विश्वास होता है, इसलिए वह अपने कामों का बड़ा ही कटु आलोचक होता है। बड़े लोगों का ईश्वर में विश्वास अदृढ़ होता है। ईश्वर की कल्पना अपने पाप की क्षमा के लिए ही वे करते हैं; परन्तु बालक ईश्वर को एक न्यायाधीश के रूप में मानता है और उसके नियम के विरुद्ध आचरण करने से वह बहुत डरता है। बालक कई बार अपनी ही दृष्टि में दोषी ठहरता है। जब कभी बालक प्रजननात्मक प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर कोई ऐसा काम कर डालता है जिसे उसका अहंभाव बहुत बुरा मानता है, अर्थात् जो उसकी मानी हुई नैतिक धारणा के प्रतिकूल है तो वह अत्यन्त दुःख का अनुभव करता है। यह दुःख इतना अधिक होता है कि बालक उसे सर्वथा भूल जाना चाहता है। बालक अपनी अपराध की घटना को बार बार भुलाने का प्रयत्न करने पर भूल जाता है, परन्तु पीछे यही घटना उसके जीवन में अनेक प्रकार के मानसिक रोग में प्रकाशित होती हैं।

कितने ही बालकों में मानसिक रोगी बनने की प्रवृत्ति स्वास्थ्य की कमजोरी के कारण होती है। कमजोर शरीर के बालक में अपने आप के प्रति हीनता का भाव रहता है। दूसरे बालक उसे सरलता से डाटते डपटते रहते हैं। वह उस पर गुस्सा होता है, परन्तु अपने क्रोध को प्रकाशित नहीं कर सकता। इस प्रकार उसके मन में वेहद खिंचाव बढ़ जाता है। इस तरह के मानसिक खिंचाव उसके अचेतन मन में संचित रहते हैं और आगे चलकर ये अनेक प्रकार के मानसिक रोगों के कारण बन जाते हैं।

घर का सांस्कृतिक वातावरण भी मानसिक रोग की उत्पत्ति में कारण होता है। यह वातावरण बहुधा सद्गुणों से सम्पन्न रहता है। कभी-कभी बच्चे का पिता स्वयं भ्रष्ट होता है और वह अपने बच्चे को सद्गुण का पुतला बना देना चाहता है। उसका इस प्रकार का प्रयत्न उसको अपने आपको सद्गुणी बनाने की असफलता की प्रतिक्रिया स्वरूप होता है। पिता की बच्चे के मूल के प्रति सावधानी का भाव बच्चे के मन में घर कर लेता है और फिर बच्चा अपनी छोटी सी मूल के लिए वेहद आत्मभर्त्सना का अनुभव करता है। इसी आत्मभर्त्सना के परिणामस्वरूप वह मानसिक रोगी बन जाता है। बचपन का पारिवारिक जीवन वास्तव में मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में बड़ा महत्व का स्थान रखता है। बहुत से मानसिक रोगियों के जीवन में हम देखते हैं कि उनका पारिवारिक जीवन या तो अभी दुखी है या पहले दुखी था। जिस बच्चे को बार बार झिड़का जाता है वह अपने आप में हीनता के भाव का अनुभव करने लगता है। पिता से बार-बार डाँट खाने वाला बालक अथवा उसके प्रेम से वंचित बालक उसकी मृत्यु की कामना करने लगता है। फिर वह पिता की मृत्यु की कामना बालक के मन में पाप भावना का रूप ले लेती है और इसके कारण वह अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का भागी बन जाता है। यह मानसिक रोग पिता के प्रति द्वेष रखने के पाप के प्रायश्चित स्वरूप होते हैं।

कितने ही बालकों के मन में अपने ही नजदीकी सम्बंधी के प्रति प्रबल काम वासना की अनुभूति होती है। माता, बहिन और भौजाई के प्रति काम वासना का अनुभव होने पर बालक अपने आपको कोसने लगता है। वह अपने आपको पापी मानता है और उसकी इस भावना के कारण भी उसे अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं।

कितने ही घरों में माता-पिता और दूसरे संबंधियों में आपस में अनबन बनी रहती है। इस प्रकार की परिस्थिति बच्चे के उचित मानसिक विकास के लिये बड़ी हानिप्रद होती है। बालक के चरित्रका

विकास अपने पिता अथवा माता के साथ अपना आत्मसात् करने के द्वारा होता है। जिस घर में पति पत्नी एक दूसरे का आदर नहीं करते और एक दूसरे को नीचा सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं, उस घर के बालकों को अपना चरित्र बनाने के लिए कोई आधार नहीं रह जाता। बालक अपने जीवनके आदर्श को अपने पिता अथवा माता से लेता है। जिस बालक के माता-पिताकी आलोचना होती रहती है, उसे अपने आदर्श को सदा बदलते रहना पड़ता है इससे बालक चरित्र में किसी प्रकार की दृढ़ता नहीं प्राप्त करता। ऐसे बालक का व्यक्तित्व विभाजित अवस्था में हो जाता है, और इसके कारण व्यक्ति को आगे चलकर हिस्टीरिया का रोग हो जाता है।

जिस प्रकार अति सावधानी से रखे गये बालक में अनेक प्रकार के मानसिक रोगों की सम्भावना रहती है इसी प्रकार जिन बालकों को अति लाड़ चाव से पाला जाता है उनमें भी मानसिक रोगी बनने की प्रवृत्ति होती है। लाड़ में पाला गया बालक दुनियाँ की लड़ाई लड़ने में, और कठिन वातावरण से समन्वय स्थापित करने में अपने आपको असमर्थ पाता है। दुनिया इतनी सरल नहीं है जितना कि उसने सोच रखा था। जब ऐसा बालक कठिन परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने में अपने आपको असमर्थ देखता है तो परिस्थितियों से भागने की चेष्टा करता है। वह अपने आपको समाज से अलग कर लेता है और इस प्रकार मानसिक रोगी बन जाता है। यहाँ मानसिक रोग पलायन वाद का चोतक है।

बार बार असफलता मिलने से भी बच्चा मानसिक रोगी बन जाता है। न्यूरोस्थेनिया का रोग उन्हीं लोगों को होता है जो अपने जीवन में सफलता की आशा नहीं रखते। जब कोई बालक अपने उद्योग में बार-बार असफल होता है तो वह अपने आपके निष्कर्षों के भाव से ही दब जाता है। ऐसी अवस्था में वह जीवित रहने के लिए अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों का आवाहन करता है और उन्हें प्राप्त कर लेता है। जीवन में असफल व्यक्ति शारीरिक रोगों को प्राप्त करके आत्मभर्त्सना के दुख से मुक्त हो जाते हैं। ऐसे लोगों का रोग ही उनका रक्षक है। यदि इन लोगों को उनके रोग के शारीरिक लक्षणों से मुक्त कर दिया जाय तो वे आत्म हत्या की ओर प्रेरित होंगे।

ऊपर हमने मनुष्य के जीवन के बचपन के अनुभवों को उसके अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का कारण बताया है। इनमें से कुछ रोग उन्हें बाल्यावस्था में ही हो जाते हैं और कुछ उन्हें आगे चलकर युवा अथवा प्रौढ़ अवस्था में होते हैं। मनुष्य के बचपन के संस्कार उसके मानसिक रोग के आधारभूत कारण होते हैं। मानसिक रोगों का तुरन्त का कारण कोई साधारण सी ऐसी घटना होती है जिसमें मनुष्य को भारी भावात्मक धक्का लगता है। जमनी के एक प्रसिद्ध वकील को अपने पैर में अकारण ही असह्य पीड़ा होने लगती थी। इस पीड़ा का तुरन्त का कारण खोजने पर पता चला कि उसे पीड़ा उसी समय होती है जब वह किसी मुकदमे में हार जाता है। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि जब वह दस वर्ष का बालक था तो वह एक दिन स्कूल जाते समय एक गाड़ी से पैर कुचल जाने वाले व्यक्ति की मानसिक वेदना से वह बहुत दुखी हुआ था और इसके कारण वह समय पर स्कूल न पहुँच पाया। स्कूल पर पहुँचने पर शिक्षक की उसे बहुत डाँट-फटकार मिली। वह प्रतिभावान बालक था, अतएव इस प्रकार के अपमान से उसका मन बेहद चल विचल हो गया वह दिन भर कुछ भी न पढ़ लिख सका। कुछ समय बाद वह इस पूरी घटना को भूल गया, परन्तु इसने उसके अचेतन मन में घर कर लिया। यहाँ अपमानित होने की भावना का भावात्मक सम्बन्ध सड़क में कुचले हुए पैर वाले व्यक्ति की वेदना से हो गया और यह वेदना, आत्मसात् की क्रिया के द्वारा उस व्यक्ति से हटकर स्वयं उस दृश्य को देखने वाले पर आ गई। अतएव जब कभी यह व्यक्ति किसी प्रकार की अपमान की परिस्थिति में आता था तो अपमान की भावना से संब-

किशोरावस्था में मानसिक जटिलताएँ

प्रो० श्रीम प्रकाशचंद्र गुप्त एम० ए० का मनोविज्ञानशाला में भाषण

ग्यारह वर्ष से अठारह वर्ष तक बालक की एक विशेष अवस्था होती है जो किशोरावस्था कहलाती है। यह बालक की विभिन्न भावनाओं और प्रवृत्तियों के विकास का काल होता है। इस अवस्था में बालक के सामने कुछ ऐसा वातावरण होता है जिनके कारण विशेष प्रकारके विचार उसके मस्तिष्क में उठने लगते हैं। कभी-कभी ये विचार बहुत ही सरल होते हैं और कभी बालक उन्हें उलझ जाता है। ऐसे विचार उसकी मानसिक ग्रंथियों के कारण बन जाते हैं। बालक की इस प्रकार की उलझनें खासकर इसी अवस्था में नहीं होती, वरन् पैदा होने के समय से ही उसे उनका सामना करना पड़ता है।

मानसिक विशेषज्ञों का कहना है कि मनुष्य का जीवन माता के गर्भ में आते ही शुरू हो जाता है। परिस्थितियाँ और वंश परम्परा दोनों ही उसका निर्माण करती हैं। पैदा होने पर कुछ ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं, जिनके कारण बालक की क्रियाएँ होती हैं। उसमें विचार संघर्ष शुरू में ही प्रारम्भ हो जाता है। पहले मानसिक विच्छेद पर मैंने अपने विचार रखे थे। उसमें कहा था कि कभी कभी मन का विच्छेद हो जाता है और बालक कुछ का कुछ करने लग जाता है। शैशवावस्था में प्रेम का अभाव ही उसकी कमजोरियों तथा अविश्वस का कारण होता है। इस विषय पर फ्रायड, एडलर और युंग महाशय के भिन्न-भिन्न विचार हैं। फ्रायड महाशय का कहना है कि बच्चों और मनुष्यों में काम संबंधी इच्छाएँ होती हैं। जब उनका दमन किया जाता है तो वे व्यक्ति के अचेतन मन में जाकर उसे विक्षिप्त बना देती हैं। युंग महाशय का कहना है कि जब माता पिता बालक में प्रारम्भ ही में नैतिकता की भावना भरना चाहते हैं और नैतिकता का व्यवहार में उल्लंघन होता है तो उसका बालक को धक्का लगता है और यह उसकी विक्षिप्तता का कारण बनता है। एडलर महाशय का कुछ और ही विचार है। उनका कहना है कि बच्चों में शुरू में ही हीनता की ग्रन्थि पड़ जाती है। वह देखता है कि दूसरी की तुलना में वह कितना छोटा है। यही भावना यदि बनी रही तो वह आगे चलकर सर्वदा भयभीत रहता है कि वह मुझसे अधिक जानकार है, अधिक शक्तिशाली है, फिर मैं उससे कैसे व्यवहार करूँ।

चित्त बचपन की दूसरी भावना भी जाग्रत हो जाती थी और वह अकारण ही पैर की पीड़ा का अनुभव करता था। जब डा० हेड फील्ड ने बचपन की स्मृति को जगा कर इस प्रकार की पीड़ा के कारण को व्यक्ति की चेतना के समक्ष प्रकाशित कर दिया तो उसका रोग जाता रहा।

मनुष्य के मानसिक रोगों का प्रधान कारण उसके व्यक्तित्व की असंतुलित वृद्धि होती है। इस प्रकार की असंतुलित व्यक्तित्व की वृद्धि माता-पिता की बालकों के लालन-पालन संबंधी उचित ज्ञान के अभाव के कारण होती है। कभी-कभी बालक जीवन में सदा चार और सद्गुण की भावनाओं को अत्यधिक महत्त्व देने से और बालक की प्राकृतिक इच्छाओं की बेहद भर्त्सना करने से उनमें मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। बालकों की उचित शिक्षा ही उन्हें मानसिक रोगों से बचा सकती है। उचित शिक्षा वह है जिसमें मनुष्य की निम्नस्तर की प्रवृत्तियों का दमन न होकर उनको शक्तियों का सदुपयोग होता है और इस प्रकार मनुष्य की उच्छकोटि को और निम्न कोटि की वासनाओं में समन्वय स्थापित होकर मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक सर्वोत्कृष्ट आदर्श की ओर प्रवृत्त रहता है।

उपर्युक्त तीनों बातें तथ्य पूर्ण हैं ? पर ये कामेच्छा, नैतिक भावना और आत्महीनता आदि कहाँ से पैदा हुई है जब इनपर ध्यानसे विचार किया जाता है तो सबकी बड़ माता-पिताके व्यवहारों में निहित ज्ञान पड़ती है। माँ-बाप बच्चों के साथ व्यवहार करने में इनका यदि ध्यान रखे तो उनकी उलझनों में बहुत कुछ कमी हो जाय। माता-पिता के समुचित संरक्षण में बालक अपनी अनकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को काबू में कर सकता है। माता-पिता से प्रेम यदि मिलता रहे तो उसका विकास भी ठीक ढंग से होता है। और किशोरावस्था में भी बालक मानसिक जटिलताओं से बचने में समर्थ होता है। ६ वर्ष की आयु का होने पर बच्चा माँ बाप के संरक्षण से अलग होना चाहता है। उसमें स्वेच्छा से काम करने की प्रवृत्ति आ जाती है। बच्चा जब ऐसा कार्य करता है जो उसकी माता पिता की इच्छा के विरुद्ध होता है तो उसे बैसा करने से रोक दिया जाता है। यहाँ उसकी प्रवृत्ति को ध्यान में नहीं रखा जाता। ऐसा देखा जाता है कि माता-पिता कुछ कहते हैं और बच्चा कुछ करता है। चार पाँच वर्ष के बच्चे से जब किसी को नमस्ते करने को कहा जाता है तो पहले वह उस पर कुछ सोचता है तब नमस्ते करता है, लेकिन छोटा बच्चा आप के कहने मात्र से नमस्ते कर देता है। बच्चे का नमस्ते न करना माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता वह बालक बड़े होने पर स्वयं नमस्ते करना जान जाता है। तुरन्त नमस्ते न करने के कारण झिड़कने का परिणाम ग्रन्थि का बनना होता है फिर आप बच्चे से कुछ नहीं करा सकते।

बचपन में पंजाब में जब मैं पढ़ता था तो उर्दू अधिक पढ़ायी जाती थी। उस समय ८, ९ वर्ष की अवस्था के बालक प्रायः यह कहते मिलते “अलिफ़ वे अउआ, माँ-बाप कौत्रा” ऐसे शब्दों का प्रयोग बालकों के मुख से क्यों होता है। यह उन्हीं बालकों के दिमाग की उपज है जिन्हें पर्याप्त प्रेम माता-पिता से न मिला हो। माता-पिता के प्रति इतने विरोधी भाव बालकों के मन में क्यों आते हैं ? यह माता-पिता के प्रेमाभाव और उनकी सख्ती के कारण होता है। इस समय बालकों में स्वतः काम करने की भावना आ जाती है। इसमें यदि उन्हें विघ्न न पड़े तो वे अपना संघ बना कर खेलने लगते हैं। इससे उनमें समूह की भावना का उदय होता है। इसमें मारपीट, गाली-गलौब तक का भी वे प्रयोग करते हैं। अपने संघ में एक को खलते और दूसरे को निकाल भी देते हैं। कभी कभी उससे ऐसे भी काम करवाते हैं जो उसके कुल मर्यादा के खिलाफ होता है जैसे अपने जूते साफ़ करवाना। इस प्रकार के कार्यों से इसकी शिक्षा ही होती है। यदि इन बातों को लेकर माँ बाप की झिड़कियाँ सुननी पड़ी तो वे ही जटिल ग्रन्थियों का कारण बन जाती हैं।

जब किशोरावस्था आती है तो माता-पिता को उनकी तरफ ध्यान देना आवश्यक हो जाता है अन्यथा उनमें विचित्र विचित्र आदतें आ जाती हैं। दूसरों से बात-चीत करते समय गर्दन हिलाने, आँख मिच मिचाने आदि उसमें कुलक्षणा आ जाते हैं, हकलाहट जैसे रोगों का वह शिकार बन जाता है। इसमें माता-पिता का प्रेमाभाव ही कारण होता है। छोटी अवस्था में बच्चों के कार्यों में कोई नियम नहीं होता। वे ऐसे ही खेलते हैं। बड़े होने पर वे खास प्रकार के से खेलने लगते हैं। मिट्टी के घरोंदे बनाना, ईंटों की दीवार खड़ा करना आदि विशेष प्रकार के खेल उनके होते हैं और उनके विशेष प्रकार के नियम भी होते हैं। कभी कभी उनके अनेक कार्यों से मा-बाप तंग आ जाते हैं और उनको रोकने लगते हैं। इस तरह उनकी प्रवृत्तियों को प्रकाशित होने से रोक दिया जाता है। ये ही मानसिक जटिलता का रूप धारण करते हैं। किशोर बालकों के विचित्र आचरण और कुछ नहीं है, वरन् दमित भावना का रूपान्तर ही हैं। कितने ही बालक बड़े होने पर भी विस्तर पर पेशाब करते हैं। इस प्रकार की किशोर बालकों की

बालकों के प्रति नया दृष्टिकोण

मानसिक विशेषज्ञों का मत है कि मनुष्य का मानसिक सृजन गर्भावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है और व्यक्तित्व के विकास में वंश परम्परा का बड़ा हाथ होता है, किन्तु वंशानुक्रम के साथ ही साथ परिस्थितियाँ भी व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करती हैं। बाल्यावस्था व्यक्तित्व के समस्त विशेषताओं के बीजारोपण का समय है। हमारे शारीरिक विकास के साथ ही साथ हमारा मानसिक विकास हमारे बाल्यावस्था के अनुभवों के ऊपर ही निर्भर करता है। जिस प्रकार महानता के मूल कारण बाल्यावस्था में ही निहित समझे जाते हैं उसी प्रकार मानसिक जटिलताओं की उत्पत्ति भी बाल्यावस्था से होती है। व्यक्तित्व निर्माण के प्रथम अवस्था में जो आदतें बालक सीख लेते हैं वही क्रमशः उनके जीवन के विकास के साथ साथ विकसित होती जाती हैं। यही कारण है कि अधिकांश मनोविश्लेषकों ने मानसिक जटिलताओं के प्रमुख कारण को बाल्यावस्था के अनुभवों से ही सम्बन्धित माना है।

बचपन में जब बालक माता-पिता के संरक्षण में रहता है उस समय यदि हम उसकी मानसिक और शारीरिक आवश्यकताओं पर भली प्रकार ध्यान रखे और उसके भावों तथा प्रवृत्तियों को ठीक ठीक समझ कर व्यक्तित्व विकास के समुचित उपादानों को उपस्थित करते रहें तो आगे चलकर अधिकांश मानसिक जटिलताओं से सहज ही वह अपने आप को मुक्त कर सकता है। इस प्रकार के बालकों में किशोरावस्था और युवावस्था में भी किसी प्रकार की मानसिक जटिलताएँ नहीं आने पातीं। बालक की

कठिनाइयों के कारणों पर जब ध्यान जाता है तो मालूम होता है कि किसी के माँ-बाप नहीं हैं, यदि हैं तो निर्धन हैं, यदि उनके पास पैसे भी हैं, तो लापरवाह हैं माँ कार्यों के भार से दबी हुई है, वह कहती है कि नंगे बाहर न जाओ नहीं तो सर्द लग जायगी! इस प्रकार के विचारों का प्रभाव शैशवावस्था ही तक नहीं रहता आगे भी बना रहता है इनके परिणामस्वरूप बालकों में हीनता की ग्रन्थि आ जाती है। फिर माँ से इतना अटूट संबंध हो जाता है कि बिना उसके बालक का जीवन भार स्वरूप हो जाता है। ऐसा देखा गया है कि व्यक्ति २५-२६ वर्ष की आयु तक ठीक रहने है, पर माँ से वियोग होते ही तरह तरह के रोगों का आवाहन करने लग जाते हैं। कभी कभी बच्चे में अपने माता-पिता का भ्रम उत्पन्न हो जाने पर उसे रोग हो जाते हैं।

कभी कभी अधिक कार्य-व्यस्त होने पर भी जब पिता उसके कार्य में विघ्न डालता है, तब पुत्र सोचता है कि उसके साथ अन्याय हो रहा है और वह जटिलता का कारण बन जाता है किशोरों की मानसिक जटिलता का एक और बहुत बड़ा कारण होता है। वह यह कि उस अवस्था में बच्चे के शारीरिक विकास के साथ साथ काम सम्बन्धी भावनाएँ उसके सामने आती हैं। यदि उनका ज्ञान उसे न करा दिया जाय तो वह स्वयं उसके विषय में जानने की कोशिश करता है और उसमें कभी कभी कुट्टे आ जाती हैं। ये आदतें बड़ा होने पर अपने ही को बुरी मालूम होने लगती हैं और जटिलताओं का कारण बनती है। यदि इनका ज्ञान पहले ही करा दिया जाय कि यह वस्तु ऐसी है तो बालक जटिल आदतों से बच जाये, पर आज तो सेक्स शिक्षा के विरुद्ध विचार समाज में फैल हुआ है। किन्तु जब आप इस चीज का विरोध करते हैं तो उसके प्रति वह और भी उत्सुक होता है, फिर प्रकृति उसे जना कर ही दम लेती है। कई कारण ऐसे होते हैं, जिनका यदि हम ध्यान रखे और माता-पिता सावधान रहें तो हम आगे बालकों को मानसिक जटिलताओं से बचा सकते हैं। बालक को इतिहास और अर्थशास्त्र का ज्ञान करा देना ही सच्ची शिक्षा नहीं है वरन् उसका मानसिक और शारीरिक विकास भी होना चाहिए।

सबसे पहली आवश्यकता माता पिता का स्नेह है। जिन बालकों को अपने अभिभावकों, अध्यापकों और साथियों का उचित स्नेह नहीं प्राप्त हो पाता, वे मानसिक रूप से असन्तुष्ट रहते हैं। उनकी स्नेह की मूल अतृप्ति ही रह जाती है। ऐसी अवस्था में वे जटिल बालक बनकर अपने अभिभावकों और अध्यापकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करने लगते हैं। छः से बारह वर्ष की अवस्था तक के बालकों की अधिकांश मानसिक जटिलताएँ इसी स्नेह की कमी के कारण होती हैं। बालक जिस किसी भी व्यक्ति के संसर्ग में आता है उससे वह स्नेह पाने की आशा रखता है। इस दृष्टि से उसके व्यक्तित्व निर्माण में केवल उसके माता-पिता का ही हाथ नहीं होता बल्कि घर का सम्पूर्ण वातावरण और उसके अध्यापकों का भी बहुत बड़ा उत्तरदायित्व होता है। प्रायः देखा जाता है कि घर में अत्यन्त सुशील और प्रसन्न बालक स्कूल जाने पर कुछ ही दिनों बाद कक्षा में अनुशासन हीन व्यवहार करने लग जाते हैं। ऐसे बालकों का दण्ड के द्वारा कोई सुधार नहीं किया जा सकता। जब बालक घर से स्कूल जाता है तो वह अध्यापकों और अपने साथियों से भी उसी स्नेह को प्राप्त करने की चेष्टा करता है जो उसे घर पर प्राप्त होता है। किन्तु जब कक्षा में प्रवेश करते ही कठोर अनुशासन का उसे पालन करना पड़ता है और वह साथियों तथा अध्यापकों का व्यक्तिगत ध्यान आकर्षित नहीं कर पाता तो उसे भारी मानसिक असन्तोष होता है। बालक का उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार इसी असन्तोष की अभिव्यक्ति मात्र से होता है। यदि ऐसे बालकों को कक्षा में प्रमुखता दी जाय और अध्यापक उनसे सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करने लगे तो वे अत्यन्त सुशील और प्रतिभाशाली बन जायें।

स्नेह की कमी होने पर बालक का असन्तोष अनेक प्रकार से व्यक्त होता है। लेखक के सम्पर्क में आया एक नव वर्षीय बालक माता-पिता और अध्यापकों की सतत चेष्टा के उपरान्त भी अपनी अवस्था के अन्य बालकों के समान पढ़ने में प्रगति नहीं कर पाता था। वह नगर के सबसे अच्छे स्कूल में भर्ती किया गया था और घर पर भी इसे पढ़ाने के लिए दो अध्यापक नियुक्त किए गये थे। जिस समय लेखक ने उसे पढ़ाने की जिम्मेदारी ली वह बहुत ही उद्दण्ड था। वास्तव में उसके पढ़ाई में पिछड़ने और उसकी उद्दण्डता का एक मात्र कारण अध्यापकों का उसके प्रति उपेक्षा भाव था। पढ़ने लिखने की अपेक्षा उसकी अन्य कई बातों में अच्छी अभिरुचि थी। पढ़ते समय प्रायः वह इन्हीं बातों के विषय में अपने अध्यापकों से पूछा करता था। कहानियों की पुस्तकें पढ़ने और कहानियों के सुनने का उसे बड़ा शौक था। बालक के पिता उसकी इन सब बातों को व्यर्थ समझते थे और वे उसे इन सब बातों से रोकना चाहते थे। अध्यापक के आने पर बालक कभी कभी कहानी सुनने की इच्छा प्रकट करता था। उसके अध्यापक भी उसकी इस इच्छा को अपने कार्य में बाधक समझते थे और उसे प्रायः पीट दिया करते थे। इससे बालक ने पढ़ाई लिखाई में तो कुछ उन्नति नहीं की अपितु उसमें अनेक प्रकार की मानसिक जटिलताएँ भी आ गईं। लेखक ने उसकी पढ़ाई कहानियों ही से प्रारम्भ की और सप्ताह में दो दिन विशेष रूप से कहानी कहने और कहानी सुनने के लिए नियुक्त की। बालक को घर पर करने के लिये थोड़ा सा काम दे दिया जाता था और उसे पूरा करने पर वह बितनी कहानियाँ सुनना चाहता था उसे सुनने को मिलती थीं। पहले यही बालक प्रायः बीमार रहा करता था। उसकी बीमारी वास्तव में अपने अध्यापकों से बचने की चेष्टा का परिणाम था। वह सब नियमित रूप से प्रसन्नता पूर्वक पढ़ने की तैयार रहने लगा और दो महीने के अन्दर ही उसने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली।

साधारणतः जब परिवार में दो या अधिक बच्चे होते हैं, तब उनके साथ व्यवहार करने में अभिभावकों की विशेष सावधानीकी आवश्यकता होती है। तीन चार वर्ष की आयु से ही बालक में दूसरों के अपने

प्रति किए गए व्यवहार को समझने की क्षमता आ जाती है। यदि वह परिवार के अन्य बालकों के प्रति अधिक सहानुभूति देखता है तो उससे ईर्ष्या करने लग जाता है। छः सात वर्ष के बालक तो ऐसी अवस्था में अपने से छोटा होने पर पीट भी देते हैं। अधिकांश परिवारों में अब भी लड़कों और लड़कियों के प्रति व्यवहार में भारी अन्तर रखा जाता है। इस प्रकारके व्यवहारका परिणाम दोनों में से किसी के लिए भी उपयुक्त नहीं होता। जब हम परिवार में किसी विशेष बालक के प्रति अधिक स्नेह दिखलाने लग जाते हैं तो वह सामान्य स्नेह न रह कर लाड़ बन जाता है। जिस प्रकार स्नेह की कमी होने पर अनेक प्रकार के मानसिक जटिलताओं का उद्भव होता है। उसी प्रकार लाड़ की अधिकता होने पर बालक में कुप्रवृत्तियों का विकास होता है। वह घमंडी, ईर्ष्यालु, उदंड और झूठी चुगली करने वाला बन जाता है। ऐसा बालक आगे चलकर परिवारके सामने ही समाज के नियमों को भंग करने की चेष्टा करने लग जाता है। इसके प्रतिकूल जिन बालिकाओं के प्रति बालकोंकी अपेक्षा निम्न कोटिका व्यवहार होता है, उनकी स्नेह की मूल तो अतृप्त रह ही जाती है उनमें आत्म हीनता की भावना का भी बीजारोपण हो जाता है और वह प्रायः अस्वस्थ रहती हैं, तथा परिवार के अन्य बालकों की भौति शिक्षा तथा अन्य कार्यों में प्रगति नहीं कर पाती। हमारे देश की महिलाओं का अप्रगतिशील होने का कारण उनके प्रति बचपनमें भिन्नकोटि का व्यवहार है।

बालकके शारीरिक विकास के साथ ही उसकी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का भी विकास होता है। शैशवावस्था के बाद जैसे जैसे वह बड़ा होता जाता है उसके प्रत्येक कार्य में एक विशेष प्रकार की स्वयं-नियोजित व्यवस्था आती जाती है। पाँच वर्ष से लेकर आठ वर्ष के बालक प्रायः अपने साथियों को लेकर अनेक प्रकार के नये खेलों की कल्पना करते हैं। इन खेलों में उनके अपने नियम होते हैं और प्रत्येक बालक उन नियमों का स्वेच्छा से पालन करते हैं। घरमें अकेले रहने पर वे प्रायः कुछ न कुछ करते रहते हैं। मिट्टी के खिलौने को खनाना; अखबार के चित्रों को काटना, पुस्तकों को उलटना और उन्हें पढ़नेका अभिनय करना उनकी मुख्य 'चेष्टाएँ' होती हैं। किन्तु साधारणतया उनके इन कार्यों का प्रोत्साहन नहीं मिलने पाता और कभी इनके कारण वे अकारण ही पीट भी दिये जाते हैं। इससे वे इन कार्यों को करना तो बन्द कर देते हैं किन्तु फिर उनकी इच्छा शक्ति के प्रकाशन का कोई साधन नहीं रह जाता और वे उसे छिपा कर करने की चेष्टा करते हैं।

अवस्था के अनुसार बालकों की जटिलताएँ भी विभिन्न प्रकार की होती हैं। कितने ही बच्चे हकलाने लग जाते हैं या अपने से बड़ों से बातें करते समय मुंह बनाया करते हैं ये आदतें उनको पीटने से अथवा अन्य किसी प्रकार से सहज ही नहीं छूट सकती क्योंकि इन सबके पीछे उनका कोई कष्ट अनुभव होता है। अधिकांश हकलाने वाले बालकों में अपने अभिभावकों के प्रति दबी हुई क्रोध और भय की भावना होती है। जब घर में या स्कूल में बालकों को इच्छा पूर्वक कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं मिलती तो उनकी अपनी भावों को प्रकाशित करने की शक्ति कुठित हो जाती है और धीरे धीरे वे बोलकर भी अपने भावों को उचित रूप से व्यक्त नहीं कर पाते। ऐसे बालकों को यदि स्नेह पूर्ण वातावरण में रखा जाय और उनकी दबी हुई भय की भावना का निराकरण करके उन्हें समुचित स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने दिया जाय तो उनके हकलाने की आदत जाती रहती है। वे भविष्य में पूर्ण स्वस्थ और प्रतिभाशाली व्यक्ति बन जाते हैं।

बच्चों का क्रोध

(श्रीमती मोती रानी सिंघल, एम० ए० एम० एड०)

क्रोध मानव प्रकृति की एक मूल प्रकृति है। इसे मनुष्य का विध्वंसात्मक मानसिक विकार भी कह सकते हैं। बालक-वृद्ध, ज्ञानी-अज्ञानी सभी में यह विकार थोड़ी बहुत मात्रा में होता है। किन्तु साधारणतः बच्चों में इस मानसिक विकार को मात्रा अधिक होती है। वे अपना क्रोध प्रकाशन बहुत शीघ्र करते हैं। इच्छा के विपरीत काम होने पर वे बहुत ही क्रोधित हो जाते हैं। उनके क्रोध की इस तीव्रता का मुख्य कारण यही है कि बच्चों में विचार-शक्ति अविकसित होती है। विचार-शक्ति के अभाव के कारण ही बच्चे अपने क्रोध पर नियन्त्रण करने में असमर्थ होते हैं।

बच्चे अपने क्रोध का प्रकाशन विभिन्न प्रकार से करते हैं। कुछ बच्चे रुठ कर, तो कुछ गेकर अपना क्रोध प्रकट करते हैं। इसके विपरीत कुछ घर के सामानों को तोड़ फोड़कर, अपने कपड़े फाड़कर, अपना सिर पटककर तथा कुछ गाली-गलौज और मार पीटकर अपने क्रोध का प्रकाशन करते हैं।

बच्चों के क्रोध-प्रदर्शन की विभिन्नता उनके मानसिक और शारीरिक स्थिति और शक्ति पर निर्भर करती है। दुर्बल मन के बच्चे क्रोध आने पर चुपचाप रुठ जाते हैं अथवा रो पड़ते हैं। उनकी मानसिक दुर्बलता का लक्षण तो क्रोध आने पर रो पड़ने से ही प्रगट हो जाता है। लड़ भगड़ कर अपने क्रोध को अभिव्यक्त करने में वे असमर्थ होते हैं। दुर्बल-शरीर के बच्चे अपना क्रोध हठ करने और रुठने में प्रगट करते हैं। वे रुठ जाते हैं तो फिर बोलते ही नहीं। इसी प्रकार अपने शरीर को घिसटना, सिर पटकना, अपने कपड़े खादि फाड़ना भी बच्चों की मानसिक दुर्बलता का परिचायक है। जब बच्चे अपनी वेवसी का अनुभव करते हैं, जब वे अपना क्रोध क्रोध दिलानेवाले पर नहीं उतार सकते, तो वे उसे अपने पर ही उतारने लगते हैं। इसके विपरीत जिन बच्चों में शारीरिक या मानसिक दुर्बलता नहीं होती वे अपना क्रोध क्रोध दिलानेवाले पर ही उतारते हैं। वे उन्हीं को परेशान करना और कष्ट देना चाहते हैं। बच्चों के क्रोध में यह उद्दण्डता उनके सबल स्वभाव का परिचय देती है।

बच्चों में क्रोध की उपपत्ति इच्छा पूर्ण न होने से होती है, परन्तु यदि उनका अपमान किया जाता है, तब भी वे क्रोधित हो जाते हैं। बच्चों में अपमानित होने पर जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसमें इच्छा न पूरी होने से उत्पन्न न होनेवाले से अधिक स्थायित्व होता है। इच्छा न पूरी होने पर बच्चे जब क्रोध करते हैं तब उन्हें फुसला लेना या समझा कर क्रोध शान्त कर देना सहज होता है; किन्तु जब बच्चे अपमानित होकर क्रोधित होते हैं तो उनके क्रोध को शान्त करना बड़ा कठिन होता है। बच्चों में मनुष्य के स्वभाव को परखने की शक्ति बड़ी तीव्र होती है। वे मुख के भाव को देख कर ही समझ जाते हैं कि कौन उन्हें प्यार करता कौन उन्हें चिढ़ाता और अपमानित करना चाहता है। यही कारण है कि जो बच्चों को प्यार करते हैं उन्हें वे भी सच्चे हृदय से चाहते हैं और जिनसे वे अपमानित होते हैं उनके प्रति उनके मन में केवल क्रोध ही नहीं होता, वरन् क्रोध धीरे-धीरे चिढ़ और घृणा का रूप धारण कर लेता है। अपने अपमानित करने वालों को हर तरह से परेशान करने के प्रयत्न में वे जो जान से लग जाते हैं।

साधारणतः बच्चों के क्रोध का प्रतिकार दो प्रकार से किया जाता है। एक दमन और दूसरा शमन—ये दोनों ही उपाय सपय समय पर उपयोगी होते हैं। अधिकतर लोग बच्चों का क्रोध शान्त

करने के लिए दमन नीति का ही प्रयोग करते हैं। जहाँ बच्चों ने क्रोध किया अथवा रोये कि उन्हें मृत, हौआ आदि का डर दिखा कर, उनकी प्रिय वस्तु को उनसे छीन लेने का भय दिखाकर अथवा उन्हें बन्द कर देने और मारने का भय दिखाकर शान्त कर दिया जाता है। कुछ लोग बच्चों के रोने पर उनके रोने का कारण जाने बिना ही उन्हें पीटने लगते हैं और इस प्रकार उन्हें शान्त करने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे प्रकार की नीति को आजकल के विद्वान लोग काम में लाते हैं। वे बच्चों के क्रोध का मनोवैज्ञानिक कारण ढूँढ़ते हैं और फिर उनको समझा बुझा कर शान्त करने का प्रयत्न करते हैं। वे उनके क्रोध और हठ के परिणाम पर विचार करते हैं।

क्रोध शान्त करने की ये दोनों रीतियाँ बच्चों के मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर अपना अलग-अलग प्रभाव दिखाती हैं। दमन का प्रयोग करने से शरीर और मस्तिष्क दोनों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जब मस्तिष्क के किसी विकार को प्रकाशित होने से रोक दिया जाता है तो वह विकार दूसरा रूप धारण करके ठीक उसी प्रकार प्रगट होता है जिस प्रकार शारीरिक विकार बुखार, फोड़ा, फुन्सी आदि के रूप में निकलता है। रोने और झगड़ने के रूप में क्रोध, दुःख आदि मानसिक विकार बाहर निकल जाते हैं। इससे इनके वेग की तीव्रता कम हो जाती है। किन्तु यदि इस विकार को बाहर निकलने के पूर्व ही भय आदि से दबा देने का प्रयत्न किया जाय तो परिणाम यह होता है कि बाहरी दृष्टि से तो क्रोध दब जाता है, लेकिन अन्दर ही अन्दर उसके स्वरूप का विस्तार हो जाता है। यह दबा हुआ विकार मानसिक रोगों के रूप में प्रगट होता है। हिस्टीरिया, स्मृति का हास, पागलपन आदि रोग मानसिक विकारों के दबने के ही परिणाम हैं। इसी प्रकार तपेदिक, पुराना बुखार आदि मानसिक विकारों के दबाने के परिणाम स्वरूप ही होते हैं। दमन नीति शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों को क्षीण करती है। यह नीति एक प्रकार से बच्चों का भविष्य ही नष्ट कर देती है।

शमन नीति से क्रोध शान्त करने का प्रभाव इसके बिलकुल विपरीत होता है। इसमें मानसिक विकार प्रकाशित हो जाते हैं। समझा-बुझाकर और परिणाम बताकर क्रोध जब शान्त किया जाता है; तब उससे दो प्रकार के लाभ होते हैं। एक तो इससे स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, दूसरे जब बच्चों के किसी क्रोध को समझा बुझा कर शान्त करने का प्रयत्न किया जाता है, तब बालक के परिणाम पर विचार करने की शक्ति में वृद्धि होती है। विवेक द्वारा क्रोध को निर्मूल सिद्ध करने से जो शान्ति प्राप्त होती है, वह मानसिक और शारीरिक शक्ति में वृद्धि करती है।

जिस प्रकार प्रेम अज्ञातरूप से ही सुख देने की प्रेरणा उत्पन्न करता है, उसी प्रकार क्रोध अज्ञात रूप से ही दुःख देने और परेशान करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। यदि ऊपर से क्रोध शान्त कर दिया जाता है और भय अथवा बाह्य लाचारी के कारण वह अपना बदला नहीं चुका पाता, तो वह बीमारी के रूप में प्रगट होकर लोगों को परेशान करता है। चूढ़ से लेकर बच्चे तक सभी यह जानते हैं कि आत्मीय जन उनके बीमार होने या किसी प्रकार का कष्ट होने से दुःखी होते हैं। अतः जब वे अपने क्रोध का बदला प्रत्यक्षरूप से निकालने में असमर्थ होते हैं तब उनके मस्तिष्क में उनकी अज्ञानता में—मनोवैज्ञानिक क्रिया आरम्भ हो जाती है, जो बाद में मानसिक या शारीरिक रोग आदि का रूप धारण कर अप्रत्यक्ष रूप से अपने क्रोध का प्रतिकार करती है। क्रोध का यह अप्रत्यक्ष प्रतिकार क्रोध के प्रत्यक्ष प्रतिकार से कहीं अधिक भयानक होता है। इसका परिणाम क्रोध करनेवाले और जिस पर क्रोध किया जाता है, दोनों के लिए अहितकर सिद्ध होता है यही कारण है कि जब कि प्रेम को रचनात्मक विकार माना गया है तब क्रोध का विध्वंसात्मक विकार कहा गया है।

बालकों की मानसिक जटिलता का उपचार

बालकों की मानसिक जटिलतायें दो प्रकार की होती हैं एक उसके व्यवहार सम्बन्धी और दूसरे उसके स्वास्थ्य सम्बन्धी। कितने ही बालक बड़े हठीले, उद्विग्न और दुराचारी होते हैं। कितने ही को चोरी करने की, चुगली करने की, दूसरों को त्रास देने की, घर से भागने की, गाली-गलौज करने की, घर के सामान बिगाड़ने की आदतें रहती हैं। बालकों को इन आदतों से मुक्त करने के लिए उनके अभिभावक उन्हें अनेक प्रकार का दण्ड देते हैं। कभी कभी इस प्रकार के दण्ड से बालक की आदतें छूट जाती हैं; परन्तु कभी-कभी वे और भी जटिल हो जाती हैं। कभी छूटी हुई आदत का रूपांतरण मात्र हो जाता है। एक आदत से मुक्त होने पर बालक दूसरी आदत को पकड़ लेता है और कभी वह सभी प्रकार की आदतों से मुक्त होने पर शारीरिक और मानसिक रोगी बन जाता है। इस तरह बालक के अभिभावक उसके विषय में चिन्ता से मुक्त न होकर और भी अधिक चिन्तित हो जाते हैं।

जिस प्रकार बालक की मानसिक जटिलता उसके दुर्व्यवहार और अनेक प्रकार की बुरी आदतों में प्रकाशित होती है उसी प्रकार वह अनेक प्रकार के मानसिक रोगों में भी प्रकाशित होती है। कितने ही बालकों को चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक विस्तर पर पेशाब करने का रोग लगा रहता है। बालक को इस आदत से मुक्त करने के लिए उसके माता-पिता अनेक प्रकार से डाँटते-डपटते और सद्बुद्धि देते हैं अथवा योग्य चिकित्सकों के द्वारा उपचार भी कराते हैं, परन्तु इससे वह आदत शिथिल न होकर और भी बढ़ हो जाती है। यदि इस प्रकार के उपचार-स्वरूप बालक की विस्तर पर पेशाब करने की आदत छूट भी जाय तो उसे अकारण भय, चिन्ता, स्मृति का ह्रास अथवा किसी दूसरे प्रकार का मानसिक या शारीरिक रोग हो जाता है। कितने ही बालकों को हकलाहट का रोग अकारण ही हो जाता है। इसका बाहरी कारण साधारणतया किसी हकलानेवाले बालक की नकल रहती है। कभी-कभी माता-पिता अथवा किसी दूसरे अभिभावक के डाँटने-डपटने से हकलाहट का रोग हो जाता है। हकलाहट का रोग अपने आपको बड़ी ही दयनीय अवस्था में पाता है। वह जितना ही इस रोग से मुक्त होने की चेष्टा करता है, उसका रोग और भी जटिल हो जाता है। हकलाहट के साथ चिड़चिड़ापन, क्रोध, निगशा और चिन्त की एकाग्रता की कमी रहती है। हकले व्यक्ति को दूसरे की अपेक्षा प्रत्येक कार्य में अधिक मानसिक शक्ति खर्च करनी पड़ती है। उसकी बोलने की रुकावट उसकी सभी प्रकार की प्रगति की रुकावट की प्रतीक होती है। जिस प्रकार हकला व्यक्ति बोलने में अपना आत्मप्रकाशन करने में अड़चन का अनुभव करता है, उसी प्रकार वह दूसरे प्रकार से भी आत्मप्रकाशन करने में अड़चन का अनुभव करता है।

कितने ही किशोर बालकों को अनेक प्रकार की कामवासना सम्बन्धी कुट्टे पड़ जाती हैं। ये कुट्टे एक ओर आचरण की बुराइयाँ हैं और दूसरी ओर वे मानसिक बीमारियाँ भी हैं। बहुत से बालक इन कामवासना सम्बन्धी कुट्टों से परेशान हो जाते हैं, परन्तु वे जितना ही उन्हें छोड़ने की चेष्टा करते हैं वे और भी जटिल हो जाती हैं। कितने ही किशोर बालक वीर्य-स्खलन की किसी बुरी टेब में पड़ जाते हैं वे इससे पीछे घबड़ाने लगते हैं, परन्तु उनके घबड़ाने से वह आदत और भी जटिल हो जाती है।

बालकों की उपर्युक्त बुराइयों को हटाने के लिए जो उपाय सत्यतः काम में लाये जाते हैं, वे अमनोवैज्ञानिक होते हैं। बालक के आचरण के दोषों को मार पीटकर सुधारना उसके धन दोषों की ओर भी जटिल बनाना है। यदि हम बालक को उसके आचरण के दोषों से मुक्त करना चाहते हैं तो हमें उन दोषों का उसी प्रकार अध्ययन करना पड़ेगा जिस प्रकार हम मानसिक रोगी के दोषों का अध्ययन

करते हैं। दुराचरण की प्रवृत्ति स्वयं मानसिक रोग है और जिस प्रकार अन्य मानसिक रोगों के दूरस्थ और समीपस्थ कारण होते हैं, उसी प्रकार दुराचरण के भी दूरस्थ और समीपस्थ कारण होते हैं। बालक के दुराचरण को हटाने के लिये दूरस्थ कारणों को जानना नितान्त आवश्यक है। इन कारणों को जानकर हम बहुत से बालकों को दुराचरण में पड़ने से बचा सकते हैं।

बालक के दुराचरण के दूरस्थ कारणों में कुछ पैत्रिक होते हैं और कुछ वातावरण के होते हैं। माता-पिता की स्थायी आदतें वंशपरम्परागत सरलता से चली जाती हैं। जिस घर का मानसिक वातावरण ठीक नहीं होता उसके बालकों में नैतिक आचरण की प्रवृत्ति नहीं रहती। शारीरिक अस्वास्थ्य भी आचरण की अनेक बुराइयों पैदा कर देता है। जिस घर में माता पिता में, आस-पास में लड़ाई अगड़वा होता रहता है, उस घर के बालकों का नैतिक स्वस्व ठीक से निर्मित नहीं होता। ऐसे बालकों में अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों को नियंत्रण में रखने की शक्ति नहीं आती। बचपन के प्राप्त क्रूरता से भरे दण्ड के कारण भी बालकों में दुराचरण की प्रवृत्ति पैदा होती है, छोटे बच्चे में दण्ड के औचित्य और अनौचित्य के निर्णय की शक्ति नहीं होती। वह सभी प्रकार के दण्ड को क्रूरतायुक्त मानता है और इसके कारण उसके अचेतन मन में समाज से बदला लेने की भावना बढ़ हो जाती है। जिसे समाज से कठोरता का व्यवहार मिला है वह समाज से इसके लिये बदला लेना चाहता है। फितने ही बालकों में अभिभावक की नैतिक कमबोरी अथवा चिड़चिड़े स्वभाव के कारण अनेक प्रकार की बुराइयों आ जाती हैं। बालक में आपस में ईर्ष्या का भाव रहता है और जब एक बालक को माता-पिता दूसरे से अधिक प्यार दिखाते हैं तो तिरस्कृत बालक न केवल प्यार किये जानेवाले बालक का शत्रु हो जाता है, वरन् प्यार करनेवालों का भी शत्रु बन जाता है। ऐसी स्थिति में उसे अपने बड़ों की सभी नैतिक शिक्षायें कड़ुई लगती हैं। बालक का अचेतन मन उससे अनायास ही इन शिक्षाओं के प्रतिकूल आचरण कराता है। जिन बालकों को माता-पिता का स्नेह नहीं मिलता, उनमें माता पिता द्वारा गाली खाने और मारे-पीटे जाने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। अतएव जब प्रेम के मूखे बालक को मार-पीटकर सुधारने की चेष्टा की जाती है, तो बालक की दुराचरण की प्रवृत्ति और भी प्रबल हो जाती है। मार-पीट खाने से बालक के प्रेम की मूल विकृत रूप से तृप्त होती है और जितनी ही अधिक उसकी इस मूल को विकृत रूप से तृप्त किया जाता है, उतनी ही उसकी विकृत रूप से प्रेम की मूल की तृप्ति पाने की इच्छा बढ़ती जाती है।

बालक के आचरण का उचित मानसोपचार उसे दण्ड द्वारा सुधारना नहीं है, वरन् स्नेह द्वारा उसके हृदय पर अधिकार प्राप्त करना है। दण्ड पाने से बालक में दुष्टता की मनोवृत्ति बढ़ती जाती है। इस मनोवृत्ति का परिष्कार स्नेह से ही हो सकता है। यह स्नेह सच्चा होना चाहिए और अपने स्नेह की सचाई के लिये बालक के सुधार करने वाले को त्याग करना पड़ता है। बालक के आचरण का सच्चा सुधार स्वयं बालक ही कर सकता है। बाहरी सुधार दिखाऊ होता है। बालक स्वयं अपना सुधार तब कर सकता है जब हम स्वयं उस में नया आत्म-विश्वास उत्पन्न करें और उसके मन में नई आदर्शवादिता लावे। बालक में इस प्रकार की आदर्शवादिता व्यक्तिगत सम्पर्क और सहानुभूति से ही उत्पन्न होती है।

बालक की बुरी आदतों को नष्ट करने के लिए उसे सहानुभूति पूर्वक उसकी पिछली जीवनी पर बातचीत करना नितान्त आवश्यक है। बालक के मन में जो सहज भाव से अपने पिछले जीवन के संबंध में अनेक प्रकार के विचार आते हैं, उसे धैर्य और सहानुभूतिपूर्वक चिन्तित्व को सुनना चाहिए। बालक की पिछली जीवनी इस प्रकार सुनने से हम उसके मन को अनेक प्रकार की आत्मश्लाघा, निराशा और क्षेप की भावना से मुक्त कर देते हैं। इस प्रकार सहजावस्था में बातचीत करने से जब बालक का

मन अनेक प्रकार की क्लृप्त भावना से मुक्त हो जाता है तो उसकी दुराचरण की प्रवृत्ति निर्बल हो जाती है। उद्दण्ड अथवा दुराचारी बालक का इस प्रकार का मानसोपचार उसी प्रकार का है, जिस प्रकार का मानसोपचार किसी मानसिक रोगी का होता है।

उद्दण्ड बालक के आचरण के सुधार का एक बहुत ही अच्छा उपाय सन्निर्देश के द्वारा उसकी प्रवृत्तियों को बदलना है। सन्निर्देश उपदेश से भिन्न वस्तु है। उपदेश बालक के चेतन मन को प्रभावित करता है और निर्देश उसके अचेतन मन को। मानसिक जटिलता की अवस्था में बालक को किसी प्रकार का उपदेश देना हानिकर होता है। मानसिक जटिलता की अवस्था में बालक के चेतन और अचेतन मन में विरोध की स्थिति रहती है। अतएव बालक को जैसा उपदेश दिया जाता है, उसके ठीक प्रतिकूल आचरण करने की उसके अचेतन मन में प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। निर्देश का परिणाम भिन्न प्रकार का ही रहता है। बालक को सन्निर्देश देने के लिए उसके चेतन मन को शिथिल कर देना अथवा सुला देना आवश्यक है। मानसिक शैथिलीकरण अथवा सुप्त अवस्था में जो विचार दिए जाते हैं वे उसके अचेतन मन में जैसे के तैसे पहुँच जाते हैं और वे बालक के जीवन में तदनुसार कार्य करने लगते हैं। साधारणतः बालक से सोई हुई अवस्था में जो कुछ कहते हैं उसके अनुसार बालक का आचरण बनने लगता है। इमीलकुए महाशय ने मानसिक रोगियों को उनसे रोग को मुक्त करने के लिए उनकी सुप्तावस्था में सन्निर्देश देकर रोगों से मुक्त किया था। उनका कथन है कि हम उद्दण्ड और दुराचारी बालक के जीवन में भी सुधार इसी प्रकार सुप्तावस्था में सन्निर्देश देकर कर सकते हैं। स्वयं लेखक ने इस प्रकार की विधि का प्रयोग रोगियों के मानसोपचार में किया और उसे बड़ा ही उपयोगी पाया। एक चोरी करने वाले बालक की चोरी करने की आदत को भी उसकी सुप्तावस्था में माता द्वारा सन्निर्देश दिलाकर उसे इस बुरी आदत से मुक्त किया।

सन्निर्देश को सफल बनाने का एक बहुत ही सुगम उपाय डा० विलियम वाउनने अपनी साइकोथीरेपी (मनोविज्ञान और मानसिक चिकित्सा) नामक पुस्तक में बताया है। जिस बालक के आचरण का सन्निर्देश द्वारा सुधार करना है उसे एक बिस्तर पर आराम से लिटा देना चाहिए और फिर उसे अपने प्रत्येक अंग को शिथिल करने का निर्देश देना चाहिए। उससे कहा जाय कि उसे थोड़ी देर बाद नींद आ जायगी। उसकी मानसिक शैथिलीकरण अथवा अर्धसुप्त अवस्था में उससे कहा जाय कि उसकी कोई विशेष बुरी आदत उससे छूट जाय और उसकी इच्छा शक्ति बलवान हो जाये तो बीरे-धीरे वास्तव में एक-एक करके उसकी बुरी आदतें छूट जाती हैं और उसमें नई मानसिक शक्ति का उदय हो जाता है। चित्त की एकाग्रता की कमी, स्मरण शक्ति की कमजोरी, उद्दण्ड अथवा दुराचारी बालकों में रहती है। सन्निर्देश के द्वारा बालक में इन शक्तियों का विकास होता है और फिर वे अपने आपको किसी दुराचरण में न लगाकर भले आचरण में लगा देते हैं।

उद्दण्ड बालक के मानसिक उपचार के लिए बालक की उद्दण्डता के चेतन और अचेतन कारणों को जानना आवश्यक है और फिर उसके अचेतन मन में चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व को समाप्त करना भी आवश्यक है। इसी अन्तर्द्वन्द्व के कारण बालक दुर्व्यवहार करता है। इसके बाद बालक की मानसिक शक्तियों को सन्मार्ग में लगाना भी नितान्त आवश्यक है। जिस बालक को अपनी मानसिक शक्तियों के प्रकाशन के लिये कोई योग्य मार्ग मिल जाता है और उसे इस मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है वह अपनी उद्दण्डता से सरलता से मुक्त हो जाता है। रचनात्मक कार्य बालक को न केवल भावी आर्थिक स्वावलम्बन की दृष्टि से उपयोगी हैं, वरन् यह बालकों के आचरण के सुधार और उसके मानसिक

बच्चों का झूठ

(ले०—कुमारी कुन्ती नागर, एम० ए०)

बच्चे झूठ क्यों बोलते हैं ? हम सबने कभी न कभी बचपन का आनन्द लूटा है तथा झूठ बोलने का अनुभव भी, कभी सुखदायक रूप में तो कभी दुःखदायक रूप में ।

एक बार की घटना है कि जिसमें झूठ के प्रताप से मेरी रक्षा ऐसे रोचक ढंग से हुई कि उस घटना को मैं कम से कम इस जीवन में तो कभी नहीं भूल सकूँगी । घटना इस प्रकार थी: घर में एक छिन्ने की मशीन थी । माताजी तथा बहिनजी का उस पर पूर्ण अधिकार था । अपने राम तथा अपने एक छोटे भैया तथा एक छोटी बहन तीनों को ही कड़ी हिदायत थी कि उस चमकीली, काली तथा लफेद और मीठी मीठी धर्रर्र धर्रर्र करने वाली सुन्दर वस्तु को बिलकुल न छुएँ । माँ और बहन की इस बोर ज्यादाती की शिकायत कई बार हम तीनों ने घर के प्रधान महाशय (पिताजी) से भी की, पर प्रधान महोदय अपने सहायक मन्त्रियों की ज्यादाती पर सिवाय लीपा पोती करने के अन्य कुछ न करते । हम तीनों मनमें कुढ़ते, जलते-भुनते रह जाते । एक दिन ज्येष्ठ मास का मध्याह्न-काल का समय था । माताजी तथा बहनजी दोनों ही नीचे एक अंधेरे तथा ठंडे कमरे में पूर्ण रूप से अर्ध रात्रि मना रही थीं । छोटे बहन-भाई हजर उधर खेल रहे थे । अपने राम को सुनहला मौका, जिसकी खोज में न जाने कब से थे, हाथ लग गया । ऊपर का कमरा जिसमें मशीन रखी थी खुला था । मैं तो चुपके से ऊपर पहुँच गई । मशीन का ढक्कन उतारा और एक तरफ पटका, माताजी की तरह चटाई पास बिछा कर अपनी गुड़िया की साड़ी पर गोटा लगाना प्रारम्भ किया । मशीन खूब जोर से चलाने लगी । पूरा जोश था उस समय । गोटा स्वास्थ्य की वृद्धि की दृष्टि से भी उपयोगी हैं ।

उपर्युक्त जो उपचार बालकों को उद्दण्डता से मुक्त करने के लिए बताये गये हैं वेही उपचार अनेक प्रकार के मानसिक रोगों से मुक्त करने के लिए भी उपयोगी है । बालक की किसी प्रकार की जटिल आदत, कुटुम्ब अथवा दूसरे मानसिक रोग से बालक को मुक्त करने के लिए हम उसके मनोविश्लेषण द्वारा उसके दमित भावों का रेचन कर सकते हैं । इस प्रकार उसके हट, झूठ और अकारण भय नष्ट हो जाते हैं । हफलाइट, विस्तर पर पेशाब करना, अँगूठा चूसना आदि आदतों का सुधार उपर्युक्त निर्देश विधि से सफलता पूर्वक हो जाता है । फिर ऐसे बालक को किसी रचनात्मक कार्य में लगे रहने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है । प्रत्येक प्रकार का मानसिक रोग चाहे उसका मानसिक रोग किसी दुराचार में प्रकाशित हो, अथवा किसी शारीरिक अस्वास्थ्य में—आन्तरिक मन से दुखी रहता है । जिस विधि से हम बालक के आन्तरिक मन का बुल हरण कर सकते हैं वही विधि उसके मानसिक उपचार की सर्वोत्तम विधि है । आन्तरिक मन से दुखी बालक प्रेम का मूला होता है । उसकी इस मूल की तृप्ति होना उसके आचरण अथवा स्वास्थ्य के सुधार में नितान्त आवश्यक है । रचनात्मक कार्य करने से बालक को एक ओर आन्तरिक प्रसन्नता होती है और दूसरी ओर दूसरी से प्रशंसित होने की इच्छा भी पूरी होती है । इस प्रकार वह अपने खोये हुए आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्त कर लेता है । जो व्यक्ति बालक के किसी रचनात्मक कार्य स्नेह के भावों का संचार करता है और इससे बालक अपने आपमें नई शक्ति के उदय का अनुभव करता है । इससे उसकी इच्छाशक्ति बली होती है और फिर वह रोगी पलायनवादी, निष्क्रमा और दुराचारी न बनकर स्वस्थ, सामर्थ्यवान, उद्योगशील और सदाचारी बन जाता है ।

पुराना था, उसमें जगह जगह गोंटें पड़ रही थीं। पहली ही गोंठ पर आने पर मशीन रुक गई। मैंने दोनों हाथों से हैंडल घुमाने में पूरी ताकत लगाई मेहनत तो सफल हो गई, पहिया घूम गया पर सूई चटाक शब्द करती हुई टूट गई। अब क्या था, मेरी सारी प्रसन्नता पर पानी फिर गया। गुड़िया को गोटेदार साड़ी पहना कर उसका व्याह करने के सुनहले स्वप्न के स्थान पर माँ और बहन के क्रुद्ध रूप ने मुझे कँपा डाला। जल्दी जल्दी साड़ी निकाल, भोटा उठा, मशीन के दकन को उस पर उल्टा तिरछा दक कमरे से बाहर आई। नीचे आकर अपनी गुड़िया की साड़ी को छिपा, छोटे बहन भाई के साथ जो नीचे खेल रहे थे, खेलने लगी। तीन, चार दिन बाद मैं तो समझी बला टल गई, पर माँ जब कुछ सीने ऊपर गई तो मशीन को अस्तव्यस्त तथा सूई को टूटा देख बड़ी लाल पीली हुई। हम तीनों की गुलाबट हुई। पहले पहले जवाबतल्बी मुझसे ही हुई। मैंने भी बड़ी सफाई दिखाई—‘अरे अम्मा, मैं तो कभी इसे छूती भी नहीं, तुमने मना जो कर रक्खा है।’ मुझसे पूछने के बाद भाई की बारी आई। वह नटखटी में घर में प्रसिद्ध था ही। माँ ने बड़ी इत्मीनान से उसे पकड़ा, ‘तुम बोलो!’ तुम्हारे सिवा किसी और का काम यह नहीं हो सकता’ आदि आदि। पर वह वास्तव में निर्दोष था। ‘नहीं नहीं अम्मा, मैं तो ऊपर आया भी नहीं। मैंने इसे नहीं तोड़ा है।’ अतः वह भी बच गया। छोटी बहन को जो पूछा तो वह भी अपनी तुलनाती बोली में रोकर कहने लगी ‘न, न, मैंने न तोला।’ मैंने सोचा कि तीनों का छुटकारा हुआ। पर न जाने कैसे माँ को पता चल ही गया और फिर मेरी खूब पिटाई हुई।

इस प्रकार बड़ों की मार तथा ताड़ना का डर बच्चों को झूठ बोलने पर विवश करता है। इस प्रकार का झूठ कभी तो रखा कर देता है पर पकड़ाई में आ जाने पर कभी कभी पिटाई भी करवा देता है। कभी कभी बच्चे अप्राप्य वस्तु के पाने के लिये झूठ बोलते हैं।

सरोज, मेरी छोटी बहन बच्चों के स्कूल में कक्षा ४ में पढ़ती थी। एक दिन उसके स्कूल में ड्रामा था। कई दिन से नित्य ही घर में वह इसके विषय में बातें किया करती थी। जिस दिन ड्रामा होनेवाला था उस दिन रात को सोते समय वह कहने लगी, ‘बहनजी मुझे आज जल्दी जगा देना। मैं और दिन की अपेक्षा जल्दी स्कूल जाऊँगी।’ मैंने समझा ठीक है। कुछ पार्ट ले रक्खा होगा, अतः तैयारी के लिये शीघ्र ही जाना होगा। वह बिस्तर को मेरे पास ही था उस पर पढ़ कर सीने की चेष्टा करने लगी।

मैं लालटेन जलाकर पढ़ रही थी। ११। बज गये पर सरोज आज अभी तक लगी थी। मैंने उससे कई बार पूछा ‘तुम क्या कुछ पार्ट कर रही हो’ उसने कहा नहीं। ‘तो फिर इतनी जल्दी जाकर क्या करोगी?’ ‘थोड़ी कुछ काम है’ उसने उत्तर दिया। ‘अच्छा तो जाओ, अब देखो ११। बज गये हैं मैं तुम्हें शीघ्र ही जगा दूँगी’ कह कर लालटेन बुझा मैं सो गई।

रात को, एक दो बार करवट बदलने में जब मेरी नींद कुछ टूटी तब भी मैंने सरोज को खौलते, कभी करवट बदलते अनुभव किया, मैं फिर सो गई। सुबह चार बजे घड़ी का अलार्म बजा तो मैं उठी और लालटेन जलाई। देखा सरोज भी उठ रही है। मैंने उससे कहा, ‘क्या तुम आज रात भर नहीं सोई हो। देखो अभी चार ही बजा है अभी उठकर क्या करोगी। आठ बजे न स्कूल जाना है फिर अभी सो जाओ।’ उसने कहा, ‘नहीं बहनजी मुझे आज पहले सुबा (उसकी एक सहेली) के घर जाना है, फिर हम दोनों स्कूल जायेंगे। मेरे पूछने पर कि सुबा के घर क्या काम है उसने मुझे छुफाने का प्रयत्न किया मेरी स्लेट उसी के पास है उसे लेती जाऊँगी। मैं समझ गई कि कुछ और बात है बिसे वह बताना नहीं चाहती। मैंने उससे प्रश्न किया ‘आज तो पढ़ाई नहीं होगी फिर स्लेट क्या करोगी?’ उसने कहा पहले दो घंटे पढ़ाई होगा। मैं मुस्काराई, सरोजजी, तुम्हारे स्कूल का वार्षिक उत्सव है। १० दिन से तैयारियाँ जोरों पर

हो रही है, पढ़ाई बन्द है। तुम बता ले भी नहीं जाती। आज दो पीरियड पढ़ाई होगी कैसे ?

मैंने उसे अपनी गोद में बैठकर प्यार करते हुए पूछा, 'अच्छा अब बताओ क्या बात है ? देखो वहन से कोई बात छिपाती क्यों हो ?' हम लोगों की माँ इस संसार में अब नहीं थी और हममें यह सबसे छोटी थी अतः मुझे बड़ी प्रिय थी। उसने डरते तथा कुछ झिझकते हुये कहा, 'आप नाराज होंगी। मैंने और प्यार करते हुये कहा, 'नहीं, बिल्कुल नाराज नहीं होऊँगी।' मैंने कहा, 'पिताजी तो उस कमरे में सो रहे हैं। तुम मुझे बताओ तो क्या बात है।'।

उसने कहना प्रारम्भ किया, 'देखो वहनजी, कल हमारी क्लास की सब लड़कियों ने तय किया है कि सब जल्दसे मैं धोती ही पहन कर आना। मैंने कहा मेरे पास तो धोती है नहीं तो सुधा ने कहा तू मेरे घर आ जाना, मैं अपनी एक धोती तुम्हें पहना दूँगी।' वास्तव में सरोज के पास धोती थी भी नहीं क्योंकि अभी वह फ़ोक और जाँधिया ही पहनती थी। वह धोती बाँधना भी नहीं जानती थी, पर उसे धोती का शौक था। मैंने कहा, 'तूने हमसे क्यों नहीं कहा था, मेरा वह लहरिया तू पहन लेना वह बहुत हल्का है। मैं तुम्हें पहना दूँगी।' यह सुन कर वह प्रसन्नता से खिल उठी पर फिर कहने लगी, 'पेटीकोट' तो है ही नहीं। तुम्हारा पेटीकोट कैसे आयेगा।' मैंने कहा, 'वह मैं अभी सिले देती हूँ। वह तेजी से उठी कैंची, सूई तागा लाकर मुझे दे दिया। मैंने एक पुरानी धोती से कपड़ा फाड़ उसे पेटीकोट बना दिया।

जब सुबह मैंने उसे पेटीकोट व पतला लहरिया जिस पर गोटा लगा था पहनाया तो पिताजी नाराज हो कहने लगे 'यह क्या ? इसे इसकी फ़ोक क्यों नहीं पहनने देती ?' मैंने पिताजी को सब फ़िस्सा सुनाया। सरोज प्रसन्नता पूर्वक अपने रूप व अपनी चमकती साड़ी को देखती उछलती हुई अपने स्कूल चली गई। आज मैंने अपने मनोविज्ञान में पढ़े तथ्य की वास्तविकता को प्रकट रूप में समझा कि किस प्रकार किसी वस्तु की चाह से बच्चे झूठ बोलते हैं।

४ वर्ष तक की उम्र के बच्चे झूठ व सत्य की दुनियाँ से एक दम पर केवल कल्पना की दुनिया में विचरते हैं। उसकी दुनिया भी हमारी दुनिया की तरह ही मनमोहक होती है।

बच्चों को अपनी सोची हुई वस्तु में वास्तविक वस्तु से किसी भी दशा में फर्क नहीं पड़ता। लाठी के धोड़े को वह सचमुच का धोड़ा मानता है। उस पर बैठा हुआ बच्चा उसी प्रकार उसमें ऐड़ लगाता टूट करता तथा हन्टर मार कर दीड़ाता है जैसे मनुष्य सच्चे धोड़े पर करता है। यदि कोई इसके धोड़े (लाठी) को छीन ले या तोड़ दे अथवा छिपाकर रख दे तो उसे उतना ही कष्ट होता है जितना सचमुच का धोड़ा खो जाने, मर जाने या भाग जाने पर मनुष्य को होता है।

एक बार की बात है एक बुद्धिया अपने पोते को लेकर कहीं मेला देखने गई। रास्ते में एक तरफ तो वह गोदी में उस बच्चे को ले गई, लौटती बार थक गई। बच्चा पैदल चलने को कहने पर १०-२० गज चलकर फिर गोदी चढ़ने को कहने लगता। बुद्धिया स्वयं बहुत थकी थी। बेचारी बड़ी परेशान थी। उसे एक तरफ़ याद आ गई। रास्ते में पड़ी एक डंडी उठाकर उसने बच्चे से कहा—ले देख यह तेरा घोड़ा है इस पर चढ़ जा और फुदकता हुआ दौड़। बच्चा, बच्चे ने प्रसन्न हो डंडी पकड़ी, उसे घोड़ा बनाया और चल पड़ा। पाँच मील का रास्ता वह छोटा सा बच्चा खुशी खुशी में तय कर गया।

यह है बच्चों की कल्पित दुनियाँ और उनके जीवन पर उसका प्रभाव। साधारण बच्चा अपनी कल्पित वस्तु को ही सच्ची मानता है। सच्ची वस्तु जो उसकी पहुँच के बाहर है वह बुलाने का प्रयत्न करता है। उसे समझाने का प्रयत्न वह नहीं करता। उसे उस अनाकर्षक व नीरस वस्तु के प्रति सोचना भी अच्छा नहीं लगता। उससे परे वह अपनी सुनहली दुनियाँ को ही सच्ची मान कर प्रसन्न होता है।

मनोविज्ञान की सबसे महत्व की देन

मनोविज्ञानकी सबसे महत्व की देन मनुष्य को स्वतंत्र चिन्तन करने की क्षमता है। प्रत्येक मनुष्य विशेष प्रकार के विचारों के वातावरण में रहता है। ये विचार उसके मस्तिष्क पर सभी समय अपना आघात प्रतिधात करते रहते हैं। जब एक ही प्रकार का विचार किसी मनुष्य के मन में बार-बार अनेक रूप से आता है तब वह एक विशेष प्रकार की शक्ति का प्रतीक बन जाता है। इस तरह समारे आस-पास चलनेवाले विचार निर्देश शक्ति को धारण कर लेते हैं। इन बाहर से आनेवाले मले अथवा बुरे निर्देशों से प्रभावित होकर मनुष्य अनेक प्रकार के कार्य करता है। जो मनुष्य जितना ही कम शिक्षा प्राप्त किये होता है, वह इस प्रकार के निर्देशों से उतना ही अधिक प्रभावित होता है।

किसी प्रकार की वैज्ञानिक शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को स्वतंत्र विचार करने की क्षमता प्रदान करना है। वैज्ञानिक विचारवाला व्यक्ति जिस विचार को सही मानता है, उसी विचार के अनुसार अपने जीवन के अनेक कार्यों का निर्णय करता है। साधारण पुरुषों की जीवन नौकायें विचारों के झुकोरे में इधर-उधर डोला करती हैं। वैज्ञानिक चिन्तन करनेवाला व्यक्ति उस पतवार लिये हुए मल्लाह के समान है, जो नौका को एक विशेष लक्ष्य की ओर ले जाता है।

विज्ञान का अंतिम लक्ष्य सत्य की प्राप्ति है। विज्ञान किसी प्रकार की मान्यता को मानव-जीवन में स्थान नहीं देता। मान्यता को स्थान देना अंधविश्वास की वृद्धि करना है और अंधविश्वास में रहनेवाले लोग जीवन में सुखी न रहकर दुःखी रहते हैं। वे शक्तिशाली न बनकर अशक्त और असामर्थवान बनकर दूसरों के भरोसे जीते हैं। मानव जीवन का सुख और उसकी शक्ति का रहस्य ज्ञान के प्रसार में है।

जो मनुष्य जितना ही कम शिक्षा प्राप्त किये रहता है, वह उतना ही अधिक दूसरों के विचारों से सम्मोहित रहता है। मनोवैज्ञानिक मनुष्यको सभी प्रकार के विचार सम्मोहन से मुक्त करने की चेष्टा करता है। संसार में अनेक प्रकार के वाद फैले हुए हैं। इसी प्रकार अनेक तरह के धर्म भी मनुष्यों को विशेष प्रकार के विचारों के अनुसार चिन्तन करने और क्रियायें करने के लिए प्रेरणा देते रहते हैं। सामान्य जनता में यह क्षमता नहीं रहती कि वह स्वतंत्र चिन्तन कर सके। वह किसी न किसी प्रकार के धर्म भावना और वादों में अपने आपको सम्मोहित करके रखना ही अपने लिए श्रेयस्कर मानती है। जैसे पुराने समय के लोग किसी धर्म-पुस्तक की आलोचना करना, उसमें कही गई किसी बात की मूल बातना एक अचान्य अपराध समझते हैं, इसी प्रकार नये विचारों के लोग किसी एक विशेष 'वाद' का प्रवर्तन करते रहते हैं, और उसी को ब्रह्म-वाक्य मानकर उसमें नुष्टि बतानेवाले व्यक्ति से शत्रु वैसा व्यवहार करते हैं।

जो मनुष्य मानव जाति को स्वतन्त्र विचार प्रदान करने की चेष्टा करता है, वह वास्तव में किसी का प्रिय नहीं होता। किसी स्थान के धर्म और वाद विशेष प्रकार की संस्था और सत्ताओं के आधार पर बन जाते हैं। फिर ये संस्थायें अथवा सत्तायें स्वतंत्र चिन्तन को बढ़ानेवाले व्यक्ति का निष्ठुरता से दमन करती हैं। इसके कारण समाज के सबसे अधिक उपकार करनेवाले व्यक्ति को ही सब से अधिक दंड सहना पड़ता है।

मनुष्य के स्वभाव में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं:— एक अनुकरणात्मक और दूसरी स्फुर्त्यात्मक। निम्न प्राणियों के जीवन में अनुकरणात्मक प्रवृत्ति का बाहुल्य पाया जाता है। अविकसित मन के लोगों में पुरानी रूढ़ियों को छोड़नेकी क्षमता नहीं रहती। वे किसी चले चलाये मार्ग पर ही स्वयं चलना चाहते हैं। मनुष्य को स्वतंत्र चिन्तन में जितनी शक्ति खर्च करनी पड़ती है, उतनी शक्ति और किसी कार्य में खर्च नहीं करनी पड़ती। जिन लोगों में मानसिक बल की कमी रहती है उन्हें दूसरों के बताये मार्ग पर ही चलना श्रेयस्कर होता है। आत्म-स्फूर्ति से वे ही लोग सोचते और कार्य करते हैं, जिनमें पर्याप्त मानसिक बल है और जो इस बल के कारण नये साहस के काम करने का उत्साह अपने भीतर अनुभव करते हैं। मनो-विज्ञान की शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य में मानसिक बल को नित्य-प्रति बढ़ाते रहना है, ताकि वह दूसरों का अनुगामी न बन कर अपने कल्याण का मार्ग स्वयं निश्चित कर सके। संसार के अनेक वादों, धर्मों और रूढ़ियों में अनजाने न पड़कर उनका मूल्यांकन करे और दूसरों से उतनी ही बात अपने लिये ले जो उसके लिये अनुभव के आधार पर कल्याणकारी सिद्ध होती है।

भौतिक मनुष्य को बौद्धिक परतंत्रता से मुक्त करता है, परन्तु वह उसे बौद्धिक स्वतंत्रता प्रदान नहीं करता। भौतिक विज्ञान धर्म और अन्धविश्वास से तो मनुष्य को बचाता है, परन्तु उसे किसी नित्य तत्व का आधार नहीं देता। भौतिक विज्ञान सत्य की खोज प्रपंचात्मक जगत में ही करता है। इस प्रकार की खोज से परिवर्तन शक्ति अथवा सापेक्ष सत्य का मिलना ही संभव है, नित्य सत्य का मिलना असंभव है। फिर मनुष्य बिना 'स्व' का ज्ञान किये किसी प्रकार की स्वतंत्रता कैसे प्राप्त कर सकता है। मनोविज्ञान मनुष्यको इस 'स्व' की ओर लेजाकर उसे सच्ची स्वतंत्रता देने की चेष्टा करता है। विचारों के क्षेत्रमें भौतिक विज्ञान का ध्वंसात्मक कार्य ही उपयोगी हुआ है, उसमें रचनात्मक अथवा सांकेतात्मक विचार देने की क्षमता नहीं है। इसके लिये अपरोक्ष अनुभूति अर्थात् बुद्धि के परे तत्व के ज्ञान की आवश्यकता है। यह अपरोक्ष अनुभूति व्यक्ति-विशेष और शास्त्र-विशेष की सम्पत्ति नहीं यह सभी को प्रयत्न द्वारा प्राप्त है। जो इसको खोजेगा वह पावेगा।

मनोविज्ञान मनुष्य को न केवल बौद्धिक परावलम्बन से मुक्त करने की चेष्टा करता है वरन् वह इन्द्रियात्मक और भावात्मक परावलम्बन से भी मुक्त करने की चेष्टा करता है। यह परावलम्बन बौद्धिक परावलम्बन से भी अधिक क्लेशकर है। इन्द्रिय सुख अस्थायी और लौकिक प्रेम अस्थिर होता है। जो व्यक्ति इनमें पड़ा है वह बुद्धि में कितना ही प्रवीण क्यों न हो सम्पूर्ण मानसिक विकास में बच्चा ही है। विक्षिप्तता इसी के कारण आती है। मनोविज्ञान मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास की ओर मनुष्य को अग्रसर करता है। वह न केवल उसे बौद्धिक वरन् ऐन्द्रिक और भावात्मक स्वावलम्बन की ओर ले जाता है। भावी मानव का धर्म मनोविज्ञान ही होगा। जिस सम्पूर्णता की खोज हम करना चाहते हैं, वह मनो-विज्ञान की सहायता से ही आ सकती है।

कविता और मनोविज्ञान

श्री रमेशचन्द्र शुक्ल

प्रत्येक कला किसी न किसी अर्थ में अभिव्यक्ति होती है। कविता भी एक कला है। चित्र कला या वस्तु कला की भाँति काव्य कला में भी रचयिता की रचनात्मक प्रवृत्तियों को स्वस्थ प्रकाशन और अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। प्रत्येक प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्ति का सम्बन्ध हमारे चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन से अधिक होता है। इस दृष्टि से कविता और मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्येक प्रकार की कविता के दो प्रमुख अंग होते हैं—भाव और विचार। इन दोनों का ही उद्गम स्थान मन है। अतएव कविता का स्वरूप और प्रकृति ठीक ठीक समझने के लिये मनोविज्ञान का प्रथम लेना स्वाभाविक है।

अनादि काल से कला के रूप में संगीत और काव्य मनुष्य मात्र को आकर्षित करते आये हैं। अनेक विद्वानों ने उनकी प्रकृति को समझने का प्रयत्न किया है। यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो संगीत के समान कविता भी आनन्द की अनुभूति कराती हैं। संसार के कवि लोगों के मानसिक साम्य को विगड़ने से बचाते हैं। आज जैसे-जैसे विज्ञान की वृद्धि होती जा रही है मनुष्य अधिकाधिक व्यक्तिवादी, बुद्धिवादी और उपयोगितावादी बनता जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप उसका भावात्मक विकास रुक गया है। पुराने समय में भावों के विकास का सर्वोत्तम साधन धर्म था। अब धर्म के विषय में मानव समाज उदासीन हो गया है। जो कार्य पहले धर्म करता था उसको पूरा करने के लिये दूसरे रूप से हमारे पास कोई साधन नहीं रह गया। बुद्धि की प्रखरता होने पर धर्म पुराने रूप में वापिस नहीं आ सकता। संसार के अनेक आधुनिक चिन्तकों का कथन है कि यदि धर्म की पूर्ति के लिये मानव जाति ने नया उपाय नहीं खोजा तो समस्त मानव जाति अपना मानसिक सन्तुलन खो देगी। यही कारण है कि जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है मानव-जाति सुखी न बनकर दुखी और उद्विग्न मन होती जाती है। विज्ञान से जहाँ एक ओर मनुष्य का बौद्धिक ज्ञान बढ़ा है और प्राकृतिक शक्तियों पर उसे नियंत्रण प्राप्त हुआ है वहाँ दूसरी ओर आधुनिक सभ्यता की उन्नति और आस्वाभाविक प्रवृत्तियों के विकास के कारण वह धीरे-धीरे अपने आप पर से अधिकार भी खोता जा रहा है। सभ्यता के विकास के साथ साथ अनेक प्रकार के मानसिक रोगों की वृद्धि इसी की चोतक है।

अपने बौद्धिक प्रयत्नों से मनुष्य केवल चेतन मन तक ही पहुँचता है। अपने अचेतन मन तक पहुँचने के लिये उसे दूसरे प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता है। यह प्रयास बौद्धिक प्रयास से भिन्न है। कविता इसी प्रयास का परिणाम है। यदि आधुनिक जीवन में किसी भी प्रकार हम अपनी अनुभूतियों और भावनाओं में सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं तो यह कविताके ही द्वारा सम्भव है। कविता का सृजन और उसका रसास्वादन मानसिक समन्वय प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है।

प्रत्येक उत्कृष्ट अभिव्यञ्जनात्मक कला की भाँति कविता का प्रभाव भी हमारे मन पर दो प्रकार से पड़ता है। प्रथम तो कविता में व्यक्त अनुभूतियाँ हमारे मन में भी उन्हीं भावों को जगा देती हैं जिनकी अनुभूति स्वयं कवि ने की। दूसरी ओर कविता हमें आध्यात्मिक समन्वय की ओर ले जाती है। पहली प्रक्रिया एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मानसिक प्रक्रिया है। साधारणतया सामाजिक बन्धनों तथा नैतिक रूढ़ियों या अन्य कई कारणों से हमारे अनेक मनोभाव अव्यक्त और अतृप्त ही रह जाते हैं। इनका दमन हो जाता है। किन्तु इससे ये शान्त न होकर मानसिक असन्तुलन और विघटन की अवस्था उपस्थित कर देते हैं। फ्रायड महाशय के अनुसार कविता में व्यक्त अनुभूतियाँ प्रतीकात्मक रूप से इन्हीं वासनाओं और मनो-

भावों की अभिव्यक्ति होती हैं। अतएव कविता एक ओर तो स्वयं कवि की दमित वासनाओं एवं मनोभावों का प्रतीक रूप से रेचन करती है और दूसरी ओर पाठकों के मन को प्रभावित कर उनके भी इन्हीं प्रसुप्त या दमित मनोभावों को पुनः जागृत कर प्रतीक रूप से सन्तुष्ट करती है। कविता में शृंगार रस की विशिष्टता इसी बात की द्योतक है। प्रसिद्ध ग्रीक विचारक अरस्तू ने भी कविता और ट्रैजिडी के मनको प्रभावित करने का बहुत कुछ ऐसा ही सिद्धान्त स्थिर किया था। उनके अनुसार ट्रैजिडी जो कि कविता का प्रमुख अंग है मय और पीड़ा के दमित मनोभावों का रेचन करती है। इसी रेचन की प्रक्रिया-स्वरूप हमें आनन्द की अनुभूति होती है।

वास्तव में यदि समस्त दमित वासनाओं का पूर्तिकरण कला या काव्य के रूप में किया जा सके तो मनुष्य को मानसिक रोग ही न हों। जिस प्रकार हमारा अचेतन मन स्वप्न के प्रतीकात्मक दृश्यों द्वारा हमारे मनोभावों का रेचन कर डालता है उसी प्रकार कविता भी इन भावों का रेचन करती है।

किन्तु कविता का केवल इतना ही मनोवैज्ञानिक महत्त्व नहीं है, जितना कि फ्रायड या अरस्तू महाशय ने बताया। कविता के द्वारा केवल मनुष्य की कलुषित भावनाओं का परिष्कार ही नहीं होता बल्कि वह अपने सर्वोत्तम स्वत्व की प्राप्ति करता है। चार्ल्स युंग महाशय के अनुसार कविता मनुष्य के सामूहिक अचेतन मन की अभिव्यक्ति है जिसका प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति स्वत्व और अनन्त व्यापक स्वत्व में एकत्व स्थापित करना है। कोई कवि यह नहीं कह सकता कि वह जिस समय भी चाहे कविता लिख सकता है। प्रत्येक प्रकार की महान रचना पूर्ण मानसिक समन्वय के पश्चात् ही सम्भव होती है। कविता का भी प्रमुख लक्ष्य मानसिक समन्वय स्थापित करना है किन्तु यह समन्वय उद्देश्यहीन नहीं होता। जब हम एक बार अपने मनोभावों को संगठित कर लेते और मानसिक साम्यावस्था को प्राप्त कर लेते हैं तो हम अहंभाव से भी मुक्त हो जाते हैं। कविता मानसिक विक्षेप का परिणाम नहीं है वह स्वस्थ से स्वस्थ मन की आत्मस्फूर्ति जन्य सृष्टि है। विलियम ब्लैक महाशय के इस कथन में कि "कविता अनन्त से मिलन का एक सम्पूर्ण मन का प्रयास है" महान मनोवैज्ञानिक सत्य निहित है। जब शैली ने कहा कि कविता एक दैवी कृति है तो वह युंग महाशय के सिद्धान्त की ही पूर्ण कल्पना कर रहा था, किन्तु उसके इस कथन में कि कविता तीव्र अनुभूतियों की सद्यः अभिव्यक्ति है केवल आंशिक सत्य है। तीव्र अनुभूतियाँ कलुषित भावना जन्य भी हो सकती हैं। इस प्रकार की अनुभूतियाँ जब तक वे उदात्तीकरण के द्वारा व्यक्तिगत सीमा को पार कर समष्टि रूप नहीं प्राप्त कर लेतीं उच्च काव्य के सृजन की प्रेरक नहीं हो सकतीं।

प्रत्येक महान काव्य कृति का एक आध्यात्मिक पक्ष भी होता है। कविता का यह आध्यात्मिक पक्ष या उसमें अभिव्यक्त उदात्त अनुभूतियाँ हमारे मन को प्रभावित कर प्रतीकात्मक रूप से वही कार्य करती है जो धार्मिक भावनायें प्राचीन युग में किया करती थीं। अतएव जो मनुष्य जितने शुद्ध कविता के जगत में विवरण कर सकता है वह उतना ही दैवी जीवन का अनुभव करता है और परम शान्ति की प्राप्ति करता है। किसी भी काव्य कृति की महानता की पहचान इससे नहीं हो सकती कि उसमें कितनी सफलता से कवि ने अपनी व्यक्तिगत रोमान्टिक अनुभूतियों या शृंगारात्मक वासनाओं का अभिव्यञ्जनात्मक वर्णन किया है बल्कि उसकी महानता का सच्चा मापदण्ड तो यह है कि वह कृति कहाँ तक हमारी मनो-भावनाओं और अनुभूतियों को संगठित और समन्वित कर हमें अहंभाव से मुक्त करती है और हमारे सीमित व्यक्तिगत स्वत्व का सम्बन्ध व्यापक स्वत्व से स्थापित करती है।

मनोविज्ञानशाला में मानसोपचार

हकलाहट में सुधार -- हकलानेवालों को एक पत्र

प्रिय साथियो ! मैं बोलते वक्त आप लोगों की तरह बहुत हकलाता था और स्पष्ट बातचीत या हँसी-मजाक से प्राप्त आनन्द को स्वप्नवत् समझता था। वह दिन अधिक नहीं बल्कि ६ महीने ही हुए जब मैं इस कलंकमय मानसिक रोग से आधा या ५० प्रतिशत मुक्त हुआ और आज ७५ प्रतिशत मैं इससे दूर हो चुका हूँ। आज मुझे ऐसा मालूम होता है जैसे मैं एक नई दुनिया में आ चुका हूँ। जितसे भी मैं बातचीत करता हूँ उससे मैं सरसता का अनुभव करता हूँ।

मैं वह दिन मूल नहीं सकता जब मैं हकलाहट से ग्रसित अपने आपको घिना कोसे नहीं रहता था। मैट्रिकुलेशन के ३ वर्ष पहले तक मुझे हकलाहट के कारण कितनी ही जगह चिढ़ाया गया। इससे मुझे कितनी लज्जा का अनुभव होता था यह मैं ही जानता हूँ। एक बार बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी के बुक-डिपोट से मैं सिलेक्सन खरीदने गया था तो मैंने विक्रेता से कहा था—‘जरा १६५३ साल के लिए आई० एस० सी० का सि. सि. सिलेक्सन दीजिएगा।’ यह कहते ही मेरा चेहरा लाल हो गया। प्रि-मैट्रिकुलेशन और मैट्रिकुलेशन के समय तो मैं बहुत ही कम अपने घनिष्ठ साथियों और घरवालों के अलावा दूसरों से बातचीत करने जाता। इसे आप सम्पापण पलायनवाद कह सकते हैं।

साथ ही वह याद भी आज ताजी है जो मैं उसी हकलाहट के समय दुहराता था। मैं मन ही मन लोचता था—‘मेरी तरह ही कई हजार हकलाते हुए युवक इस दुनियाँ में हैं। आह ! उनकी भी कितनी दर्दनाक दशा होगी ! हम सब इस दैत्य से कब छुटकारा पा सकते हैं।’ वह भावुकता के दिन थे। अक्सर उन चिढ़ानेवालों से मैं मन-ही-मन सम्बोधन कर उठता—‘हे चिढ़ानेवालो, काश तुम सब इस हालत में रहते और इस पीड़ित मानसिक अवस्था को समझते।’ फिर उसी प्रसंग में मैं एकाएक उतेजित हो जाता और उन हजारों हकलाते हुए लोगों की ओर से मन ही मन कह उठता—‘हम सब एक बार इस हकलाहटसे मुक्त तो हों; फिर देखिए किस कलापूर्वक हम तुम लोगों से सुन्दर भाषा बोलते हैं, तीर की तरह जुमते हुए शब्दों में प्रयुक्त देते हैं और अन्त में तुम सब लोगों का सर झुकाते हैं।’

जब मेरी उम्र १३ वर्ष की थी तब ही से मैं इस हकलाहट से छुटकारा पाने की कोशिश में था और यह प्रयास १६ वर्ष तक रहा। उस समय हमारी दादी के कथनानुसार सुबह शाम हर रोज गोल-मिर्च १०, १२ दाने खाया करता था। बहुत से लोग जीभ की मोटाई होना ही हकलाहट पैदा होने का कारण बतलाते थे। इसलिए उन्होंने सलाह दी कि कड़ुवा लाल या हरा मिर्च हम खाया करें। फिर शक्तिपूर्ण स्यान में चले जाते और अत्यन्त कड़ुवा होते हुए भी मिर्च खाया करते और जीभ में गड़वा भी करते थे, लार की धारा जारी रहती थी। खूब किया लेकिन कुछ भी ठीक होता हुआ नजर न आया। इसी बीच प्रि-मैट्रिक में मुझे अपने ट्रांसलेशन की किताब में सैक्रैटीज, डेमास्थनीज अथवा कोई अन्य पुरुष की हकलाहट और पत्थर मुँह के अन्दर रखकर चिल्लाने से छुटकारा पाने की छोटी घटना पढ़ने का मौका मिला। फिर क्या था, पत्थर के टुकड़े उठा लाया और मुँह भर रखकर जोर जोर से चिल्लाकर बोलने लगा। कई सप्ताह बीत गए लेकिन कोई अच्छा फल न निकला। इसी बीच एक आयुर्वेदिक किताब में ब्राह्मी के गुण के बारे में पढ़ने का अवसर मिला। एक अच्छे कविराज की सलाह ली गई। उन्होंने भी कहा कि ब्राह्मी स्वर स्पष्ट करनेवाली गुणकारी दवा है और सेवन कर देखने के लिए कहा। हकलाहट से मुक्ति पाने के लिए दिन रात एक करने के लिए मैं तैयार था ही। खेत-खेत जाकर ब्राह्मी

के पत्ते तोड़ लाता, आदमी लगाता और खाली पत्ते या शरबत या घृत बनाकर सेवन करता। ६ महीने तक खूब खाया लेकिन कुछ फायदा नहीं। फिर मैंने स्वर-प्रणाली (Phonetic system) की क्रिया जारी की। बोलने में दिक्कत के अक्षर, शब्द और खासकर जुड़े हुए नोट कर लिए गए। उदाहरणस्वरूप सि और उससे निकले शब्द जैसे सिलेबस, सिलोई, इत्यादि; अ से आः, क से ख, क से फः, क्र से फ्रः, इत्यादि की ८ पेज की काफ़ी बनाई गई। फिर कभी अन्धेरे में, तो कभी उजाले में उपरोक्त प्रणाली का अभ्यास किया करता। मुझे उसमें बहुत समय लगाना पड़ता था। बहुत अभ्यास करने पर ज़रा-ज़रा स्पष्ट स्वर निकलता था। आत्मविश्वास की कमी के कारण बहुत सा प्रयास अच्छी तरह सफल न हो सका। हाँ बहुत धीमी गति से सुधार जरूर हो रहा था, जिसके करते रहने से शायद कई साल बीत जाते।

यही नहीं मैं एकान्त में जाकर ऐनक सामने रखता और वक्तव्य की तरह पुस्तकों को पढ़ता और अनाप-सनाप भाषण करता रहता। करीब १॥ महीने तक ऐसा किया लेकिन कुछ होता हुआ दिखाई न पड़ा। फिर संगीतप्रणाली अपनाई। शाम के समय चुने हुए गाने और गीत दिल खोलकर गाए जाते। यह स्मरणीय है कि गाना या गीत गाते समय हकलाते हुए व्यक्ति नहीं हकलाते हैं। बातचीत धीरे-धीरे गाना गाने की तरह होती थी। लेकिन कुछ लोग जिनसे बातचीत की गई, उन्हें यह अच्छा नहीं लगा; मैंने भी इसे बचपन समझा और पीछे ऐसा करना छोड़ दिया। इसके कुछ ही सप्ताह पीछे मनोविज्ञान का मुझे परिचय मिला।

अब मैंने व्यवहारित मनोविज्ञान (अपलाइड साइकालॉजी) का सहारा मामूली पुस्तकों से लेना शुरू किया। ज़रा ज़रा भय हटानेवाले आत्मनिर्देश (आटोसजेशन) को प्रयोग करना शुरू किया। समय बीतते मनोविज्ञान में विशेष रुचि बढ़ती गई। इसी बीच की बात है कि १९५१ साल में मैं पढ़ने के लिए बनारस आया और भीलालजीराम शुक्ल से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

यहाँ सर्वप्रथम मनोविश्लेषण की विधि द्वारा हकलाहट के कारणों की छानबीन की गई। हकलाहट के सभी कारण बतलाना कठिन है। लेकिन जिन कारणों से मैं हकलाहट से पीड़ित था वह हैं भय, ईर्ष्या, क्रोध और बदला लेने की भावना का अचेतन मन में घुस जाना और ठोस रूप से बैठ जाना, एवं प्रति-क्रिया स्वरूप हकलाहट का रूप धारणकर बाहर निकलना। इसके साथ-साथ हस्तमैथुन, समलिंगीमैथुन और उससे हुए आत्मभर्त्सना और शारीरिक दुर्वलापन अथवा कमजोरी भी थोड़ी मात्रा में शामिल हैं।

हकलाहट का प्रथम और ७५ प्रतिशत कारण भय ही है। फिर जहाँ भय है वहाँ आत्मविश्वास की कमी और तब हकलाहट। जब मनोविश्लेषण हुआ तो यह मुझे बिलकुल स्पष्ट मालूम हुआ। मुझे अच्छी तरह याद है—जब मैं करीब ६ साल का था उस समय हमारे घर मुझे खेलाने के एक नौकर रखा गया था। एक नहीं, कई दिन वह खिलवाड़ में खाली अँगुली बताकर या चाकू हाथ में लिए हुए कहता “देखो मैं तुम्हारी नूनी (गुप्त इंद्रिय) काट लूँगा”। ४, ५ दिन जब उसने अपने पाकेट से सचमुच चाकू निकाला और उसे सामने लाया तो मेरा होश-हवाश गुम हो गया, मैं कुछ बोल न सका; अत्यन्त डर के मारे सॉस ऊपर खिंचते हुए “मौँ मौँ” कहते रह गया। करीब आध मिनट के पीछे अलावे घर में जो मेहरानी तथा बुकुवा लगानेवाली आती थीं वे भी माताजी के सामने अक्षर “नूनी काट लूँगी” कहा करती और कभी कभी नूनी हाथसे पकड़ भी लेती थी। इस पर मैं चौंक उठता था। वह ६, ७ वर्ष का कोमल और मिट्टी सदृश दिल और दिमाग और कहाँ इस तरह के खिलवाड़ जो हर वक्त भय-भीय कर देते थे और तब हृदय की गति तीव्र हो जाती। एक ओर हृदय धक-धक होता रहता था। यही

डर की भावना है जो १३ वर्ष तक मेरे अचेतन मन में राज करती हुई हकलाहट पैदा करता रही। साथियो, जरा आप भी एकान्त स्थान में बैठकर सशान्ति व्यतीत दिनों की याद तो कीजिए। कहीं किसी प्रसंगवश उपरोक्त या इसी तरह दूसरे प्रकार के भय आपके अचेतन मनमें खुस तो नहीं गये हैं।

इन पंक्तियों के साथ-साथ उन हजारों लाखों माता-पिताओं को हम सचेत करना चाहते हैं जो हजारों लाखों बाल-बच्चों को उपरोक्त प्रकार के नौकर, मनुष्य या ऐसे कार्य प्रणाली से हकला होने से बचा सकते हैं। दूसरी बात है ईर्ष्या, क्रोध, वैर एवं बदला लेने की भावना। बचपन ही से मुझमें चिड़-चिड़पिन बहुत मात्रा में था। बहुत कम दिन ऐसा गया हो जिस दिन मैं रोता न था। फिर पीछे जैसे-जैसे बड़ा होता गया साथियों से दुश्मनी बढ़ती गई। बाहर तो क्या यह वैर घर के चाचाओं तक बढ़ा; हालांकि सबों से हम बोलते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण यौन सम्बन्धी कारण का भी हम तिरस्कार नहीं कर सकते। हाँ मेरे सम्बन्ध में यह कम ही रहा। करीब १४ वर्ष की उम्र में मुझमें हस्त-मैथुन एवं समलिंगी मैथुन की आदत पड़ गई थी। जो कुछ दिन बाद छूट गई।

मैं बचपन ही से दुबला पतला था ही और आज भी उसी अवस्था में हूँ जिसका विशेष कारण अपच और लगातार अतिसार रहा है और जिसकी चिकित्सा करने में मैंने लापरवाही की। यह जरूर है कि हस्तमैथुन इत्यादि जैसी आदत ने दुबलेपन को और ज्यादा दिनों तक बढ़ाने में मदद की; लेकिन जहाँ तक दुबलेपन के कारण का प्रश्न है वहाँ यह रोग बढ़ाने में केवल १५ प्रतिशत उत्तरदायी है। जहाँ शरीर दुबलापतला रहता है, वहाँ साधारणतः कमजोरी रहती है, जल्दी थकावट का अनुभव होता है और यही कमजोरी हकलाहट को और बढ़ा देती है। हकलाहट का केवल ५ प्रतिशत कारण आप इसे कह सकते हैं। आप लोगों ने देखा होगा कि हकलाने वालों में से करीब ७० प्रतिशत दुबले पतले लोग ही हुआ करते हैं। लेकिन स्वस्थ एवं दृढ़ पुष्ट लोगों को भी मैंने देखा है जो बुरी तरह हकलाते हैं।

फिर आत्म भर्त्सना का महत्व भी कम नहीं है। जब मैं १६ वर्ष का हुआ और मैंने वीर्य सम्बन्धी पुस्तकें जैसे 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' इत्यादि पढ़ीं तो चौंक उठा। व्यतीत दिनों के हस्तमैथुन इत्यादि और उससे खोये वीर्य को बाद करता और वर्तमान शरीर के दुबलेपन का कारण वही समझता। फिर क्या था, बार-बार अपने किए हुए भूलपर पछताता और अपने आपको धिक्कारता।

हाँ तो मैं शुक्लाजी के शरण में आ पहुँचा। उन्होंने पहले ही से मेरे प्रति बिल्कुल अपना पुत्र सा व्यवहार किया। उनके हृदय की विशालता को देखते ही मैं दंग रह गया। मुझे सौभाग्य मिला कि मैं उनकी शरण में ११ वर्ष तक रह सका। सबसे पहले उनके प्रति मेरे दिल में श्रद्धा का भाव उभड़ पड़ा। उनका प्रेमपूर्ण व्यवहार और हृदय की विशालता मेरे अचेतन मन में रूढ़ होती गई और आज मैं कुछ दूसरा ही हूँ। गुरु के साथ रहने से उनका गुण अज्ञात रूप से अचेतन मन में खुस जाता है और पीछे कार्य रूप में परिणत होता है—यह आज हर क्षण मुझे अनुभव होता है। प्राचीन काल के गुरुकुल की महान् शक्ति का मनोवैज्ञानिक कारण निश्चय ही ऐसा है।

चिकित्सा प्रारम्भ हो गई और उन्होंने मुझे निम्नलिखित बातें अनुसरण करने के लिए कहाः—

(१) मैत्री भावना का अभ्यास—इस अभ्यास में अपने बैरीसे तथा जिससे पढ़ाई या अन्य विषय में ईर्ष्या हो उससे मन ही मन और हो सके तो प्रत्यक्ष रूप से सच्ची समझौता करना आवश्यक है। यही नहीं उन्हें शुभ भावनाएँ अक्सर भेजी भी जाती है। ऐसा प्रसंग भी आता है जब अपनी मूल पर अपने सम्मान या गर्व की कुछ परवाह न कर माफ़ी माँगी जाती है। उन साथियों और प्रतिस्पर्धा करनेवालों की उन्नति की इच्छा सच्चे हृदय से की जाती है।



इसका वैज्ञानिक फल यह होता है कि अपना मूलपूर्व मानसिक तनाव कम होने लगता है और मेरे गये शुभ विचारों के बदले में शुभ विचार लौट कर अपने आप चले आते हैं। प्रत्येक क्रिया की बराबरी की प्रतिक्रिया होती है, यह अचूक भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान का नियम है। मैत्री भावना का अभ्यास अचेतन मन को धीरे-धीरे परिवर्तन करने लगता है और इस तरह हफलाहट कम करने में बहुत सहायता पहुँचाता है।

(२) प्रेम तथा स्नेह का प्रसार— इस क्रिया में मन को उदार बनाया जाता है; त्याग की भावना को उत्तेजित किया जाता है और दूसरों में अपने को देखने की आदत डालने की कोशिश की जाती है। इसके व्यावहारिक साधन हैं—भिन्न और साथियों के साथ प्रेम करना, उन्हें बराबर खिलाना पिलाना, भिन्नारियों को कुछ देते रहना, बच्चों को स्नेह करना और उन्हें खाने की कुछ चीजें देते रहना। निश्चय ही मैत्रीभावना का यह एक अंग है।

(३) शैथिलीकरण का अभ्यास— इसमें एकान्त स्थान में बैठकर या विशेष कर आँख मूँदे हुए हर रोज शरीर का प्रत्येक अंग शिथिल छोड़ दिया जाता है। यह क्रिया आध घंटा या उससे भी ज्यादा देर तक की जाती है। इसकी मनोवैज्ञानिक महत्ता आज स्पष्टता समझी जा रही है। इससे मानसिक और शारीरिक खिंचाव बहुत अंशों में कम हो जाता है और आँख खोलने पर शान्ति का अनुभव होता है।

(४) अनापान लति का अभ्यास— इसमें पहले शैथिलीकरण की क्रिया की जाती है। इसके बाद श्वाँस-प्रश्वाँस पर ध्यान एकाग्र किया जाता है। पर यह क्रिया कम से कम ३० मिनट तक की जाती है।

(६) शान्त भावना का अभ्यास— इसमें जब कभी हकलाने लगे या हकलाने के बाद चेहरे को शिथिल करते हुए—‘मैं शान्त हूँ’ मन ही मन कहा जाता है। इससे शरीर में बराबर जो तनाव होता रहता है वह कम हो जाता है और शान्ति का अनुभव होता है।

आत्म-निर्देशन (आटो सजेशन) का भी डर हटाने में अपना महत्व है। आप शरीर को शिथिल कर लेट जाइए और विश्वासपूर्वक आत्म-निर्देशन देना प्रारम्भ कीजिए। मन ही मन आत्म-निर्देशन देना प्रारम्भ कीजिए—‘अब भय मुझमें रह नहीं सकते। यह धीरे-धीरे अन्दर से भाग रहा है। मेरे शरीर के परमाणु परमाणु में अनन्त शक्ति भरी है। मैं माँस रक्त और हड्डी से बना हुआ पुतला नहीं बल्कि महान आत्मा हूँ। इसमें भय के लिए स्थान कहाँ?’

यह मनोविज्ञान का एक नियम है कि जो बातें जितनी छिपाई जाती है उसका असर उतना ही ज्यादा होता है। हकलाते हुए लोगों को चाहिए कि वे खुले दिल से साथियों अथवा दूसरों से बातचीत करें और इसके पहले ही कह दिया करें कि मैं बातचीत करते समय बराबर हकलाता हूँ, कोई भूल हो जाए तो माफ कीजिएगा। ऐसा करने से कुछ अंशों में भय का विनाश होता चला जाता है।

हकलाते हुए व्यक्ति के लिए साथ में एक उत्साह बढ़ानेवाला व्यक्ति बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। मेरा मित्र नन्दकिशोर अग्रवाल जो आजकल रुढ़की इंजीनियरिंग कालेज में पढ़ रहा है मेरा उत्साह बराबर बढ़ाता रहा और इस तरह वह मुझमें स्फूर्ति का ढंकार करता रहा। उत्साह बढ़ानेवालों का स्थान व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन में कितना महत्वपूर्ण है यह वही समझ सकता है जिसने इसे लाभ उठाया है।

आपका ही—केशर बहादुर श्रेष्ठ

समाज प्रगति का मनोवैज्ञानिक साधन

मनोविज्ञान मनुष्य को अपार शक्ति का ज्ञान कराता है। मनोविज्ञान से ज्ञात होता है कि मनुष्य के सभी दुःखों और सुखों का प्रधान कारण उसके मन में ही है। बाह्य परिस्थितियों दुःखद अथवा सुखद तभी होती हैं जब कि मनुष्य अपने मन को उनसे प्रभावित होने देता है। यदि मनुष्य अपने मन को इतना बलवान बना ले कि उसे बाह्य परिस्थितियों प्रभावित न कर सकें, तो वह प्रतिकूल वातावरण में रह कर भी सुखी रह सकता है। मनोविज्ञान मन के बलों बनाने का मार्ग बताता है और इस प्रकार वह मनुष्य के दुखों के अन्त करने का उचित पथ प्रदर्शन करता है।

जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति को रचनात्मक कार्य में लगाता है तो सम्पूर्ण समाज प्रगतिशील हो जाता है। एक भी व्यक्ति का इस ओर प्रयत्न करना समाज के लिये हितकर है। जैसा समाज का नेता अथवा श्रेष्ठ पुरुष करता है समाज के दूसरे लोग भी उसी प्रकार विचार और आचरण करने लगते हैं। आत्म-फलसाय का मार्ग जो श्रेष्ठ पुरुष निर्धारित करता है, उसी पर दूसरे लोग चलने लगते हैं। इस प्रकार पूरा समाज बदल जाता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक जिम्मेदारी महान् है। उसके सच्चे निजी विचार समाज के विचार बन जायेंगे और उसका आचरण समाज पथ बन जायेंगे। इस प्रकार समाज सुधार का सर्वोत्तम उपाय व्यक्ति को सुधारना है।

जब कोई व्यक्ति अपने आपको समझे बिना और अपनी मानसिक ग्रन्थियाँ सुलझाये बिना ही समाज सुधार का कार्य करने लगता है तो वह समाज की जितनी समस्याएँ हल करता है, उनसे अधिक समस्याएँ वह पैदा कर देता है। जो लोग समाज की त्रुटियों से परेशान हो जाते हैं, वे समाज की कोई भलाई नहीं कर सकते। कभी-कभी समाज में उपस्थित बुराइयों का आरोपणमात्र होता है। मनुष्य इन बुराइयों को हटानेमें असमर्थ रहता है और इसका कारण उनका उस व्यक्तिके व्यक्तित्वमें निहित रहना है।

प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के अन्तिम मूल्यों की प्राप्ति अपने ही प्रयत्न से होती है। इस प्राप्ति का लाभ भी उसी व्यक्ति को सबसे अधिक होता है, जो प्रयत्न अधिक करता है। समाज के दूसरे लोग भी उसके प्रयत्न से लाभ उठाते हैं। कोई व्यक्ति दूसरों को उठाने के प्रयत्न के बिना अपने आपको नहीं उठा सकता। फिर एक मनुष्य का अनुकरण दूसरा भी करता है। इस प्रकार एक की भलाई सभी की वस्तु बन जाती है। जिस प्रकार रोग और बुराई संक्रामक है, उसी प्रकार भलाई और आरोग्य भी संक्रामक हैं। अतएव यदि हम समाज को भला बनाना चाहते हैं, यदि उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करना चाहते हैं तो इस उद्देश्य के प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन अपने आपको अथवा एक व्यक्ति को शिक्षा द्वारा ऊँचा उठाना ही होगा। हम जब स्वयं नीचे गिरते हैं तब हम न केवल अपनी क्षति करते हैं वरन् पूरे समाज की भी हानि करते हैं।

समाज की सेवा व्यक्ति के अन्तिम मूल्यों की प्राप्ति का साधन है। जो मनुष्य अपने सुखको भुलाकर समाज की जितनी अधिक भलाई करने की चेष्टा करता है, जो दूसरों के सुख के लिये अपने आप जितना कष्ट सहता है, वह उतना ही जीवन के अन्तिम मूल्यों की प्राप्ति करने में समर्थ होता है। प्रत्येक मनुष्य जीवन के अन्तिम मूल्य प्राप्त करता है। अतएव इस कार्य में एक व्यक्ति की सामर्थ्यता अनेक लोगों को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार अन्तिम मूल्यों की प्राप्ति की चेष्टा मात्र करना समाज की सेवा करना है।

आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से पता चलता है कि मनुष्य को सभी प्रकार की सुख की सामग्री रहने पर भी वह दुःखी रह सकता है। मनुष्य का सुख और दुःख उनकी मानसिक वनावट पर निर्भर

करता है। समाज मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, परन्तु वह उसके मानसिक क्लेश का विनाश नहीं कर सकता। जो मनुष्य आन्तरिक मन से दुःखी है वह जिस क्षेत्र में कार्य करेगा अपने आसपास दुःख का वातावरण उत्पन्न कर लेता है। जो व्यक्ति मानसिक विभाजन की अवस्था में है, जो अपने आप से घृणा करता है, वह समाज में उसी प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न कर लेता है। वह अपने विचारों से दूसरे लोगों के मस्तिष्क को प्रभावित करता है जैसा वह है, वैसा ही अपने आस-पास के समाज को बना देता है। सामाजिक ग्रन्थियों को वही व्यक्ति सुलभ कर सकता है जिसकी अपनी मानसिक ग्रन्थियाँ सुलभ हों। इसके लिये न केवल सामाजिक कार्य करना बल्कि अपने आपको समझना, अपनी छानबीन करना और अपने व्यक्तित्व के विभिन्न तत्वों में एकत्व स्थापित करना आवश्यक है। जिन लोगों ने अपने मन की छानबीन नहीं की है और जिन्हें जीवन के अन्तिम मूल्यों का ज्ञान नहीं है, वे समाज सेवा के नामपर काम करना प्रारम्भ करते हैं, परन्तु पीछे समाज का शोषण करने लगते हैं। वे उन स्वयंसेवकों के सदृश हैं जो किसी ड्रामा में प्रबन्ध करने के लिये नाम लिखाते हैं, परन्तु ड्रामा प्रारम्भ हो जाने पर दूसरे दर्शकों के ड्रामा देखने में बाधक बन जाते हैं और इस प्रकार समाज में गोलमाल उत्पन्न कर देते हैं। यदि हमारा देश ऐसे समाज-सेवियों से बचा रहे तो कितनी सुखद बात होगी।

प्रत्येक उदार पुरुष समाज की प्रगति चाहता है। कुछ लोगों के विचारानुसार यह प्रगति वर्तमान सत्ताधारियों की हठाने से हो सकती है। उनके कथनानुसार इनके कारण धनी, गरीब, छूत-अछूत और जात-पाँत के भेद बने हुए हैं, इनके कारण ही समाज में वह ज्ञान प्रचलित नहीं हो पाता जिससे सब प्रकार की सामाजिक असमानतायें दूर हों और व्यक्ति को आत्मविकास के लिये स्वतन्त्रता मिले। इस प्रकार का विचार एकांगी है। देखा जाता है कि सत्ताधारियों के विनाश में लगे हुए समाज के सेवकों में ही सत्ता के प्रति मोह हो जाता है, फिर एक की जगह दूसरा समाज शोषक अथवा तानाशाह उपस्थित हो जाता है। मनुष्य के उदार विचारों के स्थायी रखने के लिये उसकी शिक्षा इस प्रकार होनी चाहिये कि वह ऐसे मूल्यों का ज्ञान कर ले ताकि उसे सामान्य सुखों के लिये प्रलोभन न रहे। एक-एक व्यक्ति को उच्चकोटि का बनाया जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों को जब राजसत्ता सौंपी जायगी तभी सच्चा जन-हित होगा। अविकसित मन के व्यक्ति जब सत्ताधारी हो जाते हैं, तो समाज की प्रगति न होकर उसका प्रतिगमन होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यक्ति को सुधार कर ही समाज को सुधार सकता है।

जब हम सामाजिक प्रगति के लिये वैयक्तिक साधना की आवश्यकता बताते हैं तो हमारा यह कदापि अर्थ नहीं कि व्यक्ति किसी पहाड़ की गुफा में अथवा एकान्त घर में बैठकर साधना करे। कई लोग विशेष प्रकार की शक्तियों की प्राप्ति के लिये अथवा व्यक्तिगत मुक्ति के लिये योगाभ्यास करने लग जाते हैं। ये पारिवारिक जिम्मेदारियोंसे उदासीन होकर कभी-कभी जंगल में चले जाते हैं। इस प्रकार का आचरण मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे हानिप्रद है।

समाजसेवा व्यक्तिके सर्वोच्च उठाने का साधन है। भगवान् कृष्ण ने गीता में यही शिक्षा दी है। हम समाज के कल्याण का कार्य करके ही आन्तरिक शान्ति और सुख प्राप्त कर सकते हैं। सच्ची मुक्ति भी अपने आपको समान हित के लिये खो देने में है। मनोविज्ञान मनुष्य को समाज सेकासे विरत करने की शिक्षा नहीं देता बल्कि अपने आपको समझने की आवश्यकता बताता है ताकि मनुष्य समाज हित के नाम पर अपने आपको और दूसरों को धोखा न दे। जब मनुष्य समाज सेवा द्वारा अपने अहंभाव का पोषण करने लगता है तो न केवल उसे ही दुःख होता है बल्कि समाज को भी उससे हानि होती है।

मनोविज्ञान और राष्ट्र का नवनिर्माण

हमारा देश स्वतन्त्र है। हमारे स्वतन्त्र होने के कारण हमारे अल्पविकास की अनेक अड़चनें दूर हो गई हैं। हमें अनेक ऐसी सुविधाएँ प्राप्त हैं जो पहले नहीं थीं। आज हमको बौध्दिक रखनेवाला और जबरदस्ती काम करनेवाला कोई नहीं है। हम जो चाहे कर सकते हैं और जैसे चाहे बैठे रह सकते हैं। मानव जीवन के विकास का चरम लक्ष्य वही स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। जब तक किसी प्रकार की परतन्त्रता रहती है, मनुष्य दुःखी रहता है। स्वाधीनता में ही सुख है, शान्ति है और उत्साह है। संसार की सबसे मूल्यवान वस्तु स्वतन्त्रता ही है। इस स्वतन्त्रता के लिये हमारे पूर्वजों ने बड़ा त्याग किया है। हमारे नवयुवकों ने अनेक प्रकार की बलि दी है। हमारा देश इस स्वतन्त्रता को पाकर आज दूसरे देशों की बराबरी कर रहा है। हमें विदेश में आज वही सम्मान मिलता है जो दूसरे देश के स्वतन्त्र नागरिक को मिलता है।

स्वतन्त्रता जिस प्रकार मूल्यवान वस्तु है उसी प्रकार वह जिम्मेदारी की भी वस्तु है। जिन लोगों में जिम्मेदारी का भाव नहीं रहता, वे अपनी स्वतन्त्रता को खो देते हैं। स्वतन्त्र व्यक्ति एक ओर दूसरे के नियन्त्रण में नहीं रहता, परन्तु दूसरी ओर वह तथा अपने आप को अपने नियन्त्रण में रखने की चेष्टा करते रहता है। कोई मनुष्य तभी तक स्वतन्त्र रह सकता है जब तक उसमें अपने आपको समझने की और अपने जीवन को नित्य प्रति मूल्यवान बनाने की लगन रहती है। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट महाशय ने मनुष्य को स्वनिर्मित प्राणी कहा है। पशु दूसरे के द्वारा जन्म लेता है और अपनी मूल प्रवृत्तियों के अनुसार वह अनेक प्रकार के आचरण करता है। उसके आचार व्यवहार में सीमित विकास होता है। उसमें आगे पीछे सोचने की शक्ति नहीं रहती। इसी कारण वह अपने आप को ऐसा नहीं सुधार सकता जैसा मनुष्य सुधार सकता है। परमात्माने मनुष्य को बुद्धि दी है, बुद्धि जन्म जात तत्त्व है इसका सदुपयोग तथा दुरुपयोग किया जा सकता है। मनुष्य अपने बुद्धि के सदुपयोग से आत्मनिर्माण कर लेता है और उसके दुरुपयोग से आत्म-विनाश करता है बुद्धि का सदुपयोग करके मनुष्य बाह्य प्रकृति को तथा अपने आप को समझता है और इस समझ और सूझ के अनुसार अपने को इस प्रकार मोड़ता है कि जिससे वह अपने जीवन को सफल बना सके। केवल मनुष्य में ही चरित्रवान होने की क्षमता है और चरित्र अपने आप द्वारा निर्मित होता है।

जिस प्रकार व्यक्ति अपने आप को समझ कर और अन्तर्निहित शक्ति को जान कर अपना नव निर्माण करता है, उसी प्रकार राष्ट्र भी अपनी शक्तियों को जान कर ही नव निर्माण कर सकता है। अपने आपका ज्ञान मनोविज्ञान कहलाता है। मनुष्य के स्वतन्त्र भौतिक और मानसिक हैं। भौतिक स्वतन्त्र के ज्ञान से मनुष्य अपनी दैनिक उन्नति कर सकता है और मनोविज्ञान से मनुष्य मानसिक उन्नति कर सकता है। किसी राष्ट्र के निर्माण में भी हमें उन शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना होगा, जो हमारी आँख से छिपी हुई हैं और जो हमारे अनुकूल कार्य न करने के कारण हमें आगे न बढ़ा कर पीछे ही ढकेल रही हैं।

किसी भी राष्ट्र का निर्माण आर्थिक, बौद्धिक अथवा चरित्र की दृष्टि से हो सकता है। आधुनिक काल के राष्ट्र के शुभ चिन्तक और रचयिता जब किसी प्रकार की राष्ट्र निर्माण की योजनाएँ बनाते हैं तो उस योजना की सफलता का मापदंड आर्थिक उन्नति बना देते हैं। जो देश आर्थिक दृष्टि से गिरा हुआ है वह सभी प्रकार से गिरा हुआ समझा जाने लगता है। कहावत है कि मूखा मनुष्य क्या पाप

नहीं करता। गरीबी पाप की बड़ है। इन कहावतों में आशिक सत्य है। इनको ही उन्नति का माप दंड बना लेने से मनुष्य दूसरे प्रकार के मूल्यों को दृष्टि से ओझल कर देता है इसीका परिणाम है कि हम किसी राष्ट्र अथवा व्यक्ति की इज्जत नहीं करते जब तक उसके पास धन न हो। चाहे वह कितना ही बुद्धिमान और चरित्रवान क्यों न हो। इस प्रकार का दृष्टिकोण दूषित है और इस दृष्टिकोण से राष्ट्र का सुधार न होकर विनाश ही होता है। आधुनिक शिक्षा की सफलता का मापदंड मनुष्य की बौद्धिक अथवा चरित्र की उन्नति न होकर फल कमाने की क्षमता बन गई। इस दृष्टि बिन्दु के कारण मनुष्य में जितनी स्वार्थ-परता आ गई है और उससे उत्पन्न होने वाले आन्तरिक संघर्ष आ गए हैं, उतने उसके अशिक्षित रहने पर नहीं आते। आधुनिक शिक्षा मनुष्य में उत्थान का कारण न बन कर उसके पतन का कारण बन गई है।

मनुष्य को जीवन-यापन के लिये धन अवश्य चाहिए, परन्तु धन ही उसके जीवन का मूल्याङ्कन करे यह मूर्खता है। जब देश में धन की अत्यधिक बाढ़ होती है तो चरित्र के बहुत से सद्गुण लुप्त हो जाते हैं। अधिक धनी व्यक्ति में भले बुरे के निर्णाय की शक्ति नहीं रहती। लक्ष्मी का वाहन उल्लू माना गया है जो दिन को रात और रात को दिन देखे। धनी मनुष्य का अभिमान उसे मदमत्त बता देता है। उसे दूसरे के भावों का ध्यान ही नहीं रहता। धनी धनी का आदर करता है, और गरीब का गरीबी के कारण तिरस्कार करता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति मानवता की विनाशक है। हमारे देश में जब जब धन बढ़ा, राष्ट्र के अग्रुओं की बुद्धि मन्द हो गई है और उनके चरित्र का हास हुआ है। जिन लोगों के पास धन अधिक रहता है और चरित्र की कमी रहती है, वे विदेशियों को लूटने का निमंत्रण देते हैं। मुहम्मद गजनवी और गोरी इसी समय भारतवर्ष में आये जबकि हमारा देश धन से लबालब था।

राष्ट्र की दूसरी प्रकार की उन्नति बौद्धिक है। जिस मनुष्य की जितनी अधिक विद्या होती है वह उतना ही अधिक शक्तिशाली होता है। यदि हम अपने देश में धन बढ़ाने की लगन न करके विद्या बढ़ाने की लगन करें तो राष्ट्र का अधिक स्थायी लाभ होगा। विद्वान पुरुष अपने उत्थान का मार्ग अपने आप खोज लेता है। राष्ट्र के बौद्धिक निर्माण में जो बात है वह यह है कि बौद्धिक विकास का लक्ष्य केवल आर्थिक उन्नति न हो जाय। अर्थकरी विद्या की लगन चरित्र में गुणों की विनाशक होती है। अतः संसार दुःखी इस कारण से नहीं है कि संसार में विद्वानों ने अपनी विद्या का सदुपयोग नहीं किया। जैसे जैसे मनुष्य विद्या में बढ़ता जाता है उसमें हृदय हीनता आती जाती है यह अर्थकरी विद्या के बाढ़ का स्वभाविक परिणाम है। संसार के दूरदर्शी ऋषि इसके प्रति सचेत हो गए हैं और वे राष्ट्र के नेताओं को बार बार बता रहे हैं कि यदि बुद्धि का विकास इसी प्रकार होता रहे, नये नये वैज्ञानिक यन्त्रों का यदि इसलिये ही आविष्कार होता रहे कि उससे मनुष्य बड़े बड़े विस्फोटकों के द्वारा मानव विनाश कर देगा तो मानव जाति पृथ्वी पर खोजने पर भी न पायी जायगी।

राष्ट्र की सच्ची उन्नति चरित्र की उन्नति है। चरित्र वह बल है जिसके कारण मनुष्य निर्धनता से मुक्त हो जाता है और उसकी बुद्धि भी मानव जाति का अकल्याण न करके कल्याण करती है। संसार के सभी सन्तों ने इसीलिये चरित्रवान बनाना मनुष्यका सर्वोत्तम पुरुषार्थ माना है। धन की वृद्धि और बुद्धि-वृद्धि ये स्वतः साध्य नहीं है यह साधन मात्र है। चरित्रबल स्वयं साध्य है। जिस व्यक्ति में चरित्र बल है उसमें दूसरे प्रकार का बल अनायास आ जाता है। जिस राष्ट्र में चरित्र बल है उसमें धन की कमी होने पर भी ऐसी आपत्तियाँ नहीं आती, जैसी धनवान चरित्रहीन राष्ट्र पर आती हैं।

मनुष्य की सभी प्रकार की शक्ति अभ्यास से बढ़ती है और अभ्यास से उसका हास होता है। जिस प्रकार एक एक कौड़ी जोड़ कर मनुष्य करोड़पति बन जाता है, उसी प्रकार एक एक छोटा छोटा काम करके मनुष्य महान चरित्रवान बन जाता है अभ्यास से आदत उत्पन्न होती है। चरित्र आदतों का पुत्र है।

चरित्र में अनेक गुणों का समावेश होता है। इन गुणों का मूल्यांकन दो प्रकार से किया जाता है (१) व्यावहारिक कार्य-कुशलता अथवा सफलता और (२) आन्तरिक शान्ति। पश्चिम में चरित्र के जिन गुणों की कीमत की जाती है, वे ऐसे हैं, जिनसे मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन में सफल होते हैं। यह भौतिक दृष्टिकोण है। ऐसे गुणों का रहना मनुष्य के लिए आवश्यक अवश्य है परन्तु इन्हें ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता। भारत में इस प्रकार के गुणों की अधिक कीमत नहीं की गयी है। इसलिए यह लौकिक उन्नति की दौड़ में दूसरे देशों से पिछड़ गया। भारतवर्ष में चरित्र के जिन गुणों की अधिक कीमत की गई है वे मनुष्य को शान्ति देनेवाले हैं। सेवा, शील, सन्तोष ये गुण ऐसे हैं जिनसे मनुष्य दूसरों से अधिक बलवान नहीं बनता परन्तु वह दूसरों से अधिक आन्तरिक मन में सुखी रहता है। संसार में इन गुणों का अभाव है। हमारे देश में ये गुण कुछ हद तक पाये जाते हैं। इन गुणों की वृद्धि करना हमारा विशेष कर्तव्य है। इन गुणों का आधार मनुष्य की सहृदयता है। सहृदय व्यक्ति ही सुखी रह सकता है।

सहृदयता की वृद्धि के लिए संसार के दिव्य दृष्टि रखनेवाले व्यक्तियों ने धर्म का निर्माण किया था। धर्म मनुष्य के भावों की शिक्षा का सर्वोत्तम साधन है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के कलुषित भाव सदा आते रहते हैं। जब मनुष्य अपने जीवन का लक्ष्य भौतिक बना लेता है और वह दृष्टि-गोचर सत्ता के अतिरिक्त किसी तत्व को नहीं मानता तो उसके कलुषित भावों के रोकने का कोई साधन नहीं रहता। मनुष्य की साधारण बुद्धि उसे सीमित बनाती है। वैज्ञानिक बुद्धि मनुष्य को इन्द्रिय गोचर तत्व के प्रति उदासीन ही नहीं कर देती वरन् संयुक्त बना देती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य में आत्म-नियंत्रण की शक्ति का अभाव हो जाता है। प्रत्येक कार्य इस बात पर जोर देता है कि हमारे किसी भी कार्य का चाहे वह शुभ हो या अशुभ परिणाम अवश्य होता है और हमारे प्रत्येक कार्य को एक अदृश्य सत्ता देखती रहती है। जिस व्यक्ति की इस सत्ता में अज्ञा रहती है वह अपने साथी के साथ धोखेबाजी नहीं करता। वह अपने आपको भी धोखा नहीं देता। फिर धर्म स्वयं ही मूल्य है। धर्म की लगन मनुष्य को धन दौलतके प्रति उदासीन कर देती है। मनुष्य किसी प्रकार की खुशामद इसीलिए करता है कि वह जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता है उसे मूल्यवान समझता है। यदि उसके मूल्यांकन का ढङ्ग ही बदल जाय तो उसे दूसरों को धोखा देने की आवश्यकता ही न पड़े। अतएव किसी भी राष्ट्र में जितना ही सच्चे धर्म का प्रसार होगा उतना ही अधिक चरित्र के सर्वोत्तम गुणों का विकास होगा।

ऊपर हमने जिन मूल्यों की वृद्धि की चर्चा की है उन्हें भी हम अधिकतर शहर के लोगों से सीमित ही कर देते हैं, परन्तु यह हमारा दृष्टिकोण गलत है। किसी भी राष्ट्र की सच्ची उन्नति तब तक नहीं हो सकती जबतक राष्ट्र के देहात में रहनेवाले लोगों को उन्नति का सन्देश अनुप्राणित नहीं करता। राष्ट्र का आन्तरिक भाग देहाती जीवन है। यदि शहर राष्ट्र के मस्तिष्क है तो देहात उसका हृदय। किसी भी बात का बार बार बार मनन होने पर वह बात मस्तिष्क से हृदय में जाती है और जब कोई बात हृदय तक पहुँच जाती है तभी वह आचरण का कारण बनती है। हमने पश्चिम से बहुत सी

बातें ऐसी सीखी हैं जिसमें हमें राष्ट्रीय लाभ हुआ है, परन्तु यह उपयोगी बातें शहर तक ही सीमित रह गई हैं, देहात में नहीं पहुँची हैं। एक दूसरा पहलू और है, हमने पश्चिम से बहुत सी ऐसी बातें भी सीखी हैं जिससे राष्ट्र का कल्याण न होकर अकल्याण ही होना सम्भव है। यह हमारे सौभाग्य की बात है कि इनमें से बहुत सी बातें देहात तक नहीं पहुँची।

भारतवर्ष एक बहुत पुराना राष्ट्र है। इसकी संस्कृति बहुत पुरानी है। कई दिनों के अध्ययन के कारण हमारे राष्ट्रीय जीवन में ऐसे सदगुण उपस्थित हुए हैं जिनकी प्राप्ति की शिक्षा सैकड़ों वर्षों से किसी राज्य ने नहीं दी। ये सदगुण परम्परागत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अपने आप ही चले आ रहे हैं। भारतीय पारिवारिक जीवन सहृदयता की दृष्टि से देखा जाय तो पश्चिम की उन्नति राष्ट्र के पारिवारिक जीवनसे कहीं ऊँचा निकलेगा। मेरा एक मित्र युक्त प्रान्त के प्रसार योजना में काम कर रहा है। उसके तीन बच्चे और छी अपने कार्यक्षेत्र के २०० मील की दूरी पर देहात में हैं, उसकी उनसे कोई चिन्ता नहीं है, और जो कुछ कमाता है अपने माता पिता और भाई को भेज देता है। वे वैसा चाहते हैं घर का प्रबन्ध करते हैं। बड़े भाई का कर्तव्य है कि छोटे भाई के बच्चे की शिक्षा-दीक्षा ठीक से हो। उसके छी की आवश्यकताएँ पूरी हों! माता पिता का काम है कि छोटे बच्चों की वे देख भाल करें, उनका लालन-पालन ठीक से करें। बूढ़े लोग अपने नाती पोतों की खबर लेते हैं और वे नाती पोते बड़े होकर वृद्धों की सेवा करते हैं। योरोप में इस प्रकार के पारिवारिक जीवन की कल्पना सम्भव नहीं। जैसे विज्ञान की वृद्धि होती जा रही है और आधुनिक सभ्यता का विकास हो रहा है, वैसे वैसे मनुष्य में हृदय-हीनता भी बढ़ती जा रही है। वह दूसरे के सुख में अपना सुख देखकर, अपने व्यक्तिगत सुख के लिए अनेक प्रकार के मार्ग खोज रहा है। मनुष्य की भौतिक दृष्टि उभे इन्द्रिय सुख की ओर प्रगतिशील कर रही है और अन्तःकरण के सुख के प्रति उदास कर रही है, उसी के परिणामस्वरूप मनुष्य शरीर का शृङ्गार करता है, खाता-पीता और मोटा होता है। विषय भोग में आनन्द लेता है। जो लोग इस चीज में बाधक होते हैं उन्हें ही अलग कर देता है। पश्चिम के उन्नत राष्ट्रों में दिन उगते ही नास्तापानी करके पति एक फैक्ट्री में काम करने जाता है, और छी दूसरे में और बच्चे नर्स के सुपुर्द कर दिये जाते हैं। एक एकनर्स ३५-३५ बच्चों की देख-रेख करती है। बूढ़े घरों में रहते हैं और उन्हें बुढ़ापे की पेंशन मिला करती है, न तो बूढ़े लोगों में बच्चों के देख-भाल करने की इच्छा रह गई है और न बच्चे ही अपने दादा-दादी को पहचानते हैं। नवयुवक और युवती अपने माँ-बाप से पिंड छुड़ा कर अपने को सुखी मानते हैं। उन्हें अपने मासिक वेतन में से माँ बाप को पैसा भेज देना पड़ता है इसके अतिरिक्त उनका माँ बाप के प्रति कोई कर्तव्य नहीं रह जाता।

यह जीवन यूरोपीय जीवन है। क्या इस प्रकार के जीवन में मानवता के किन्हीं सदगुणों का प्रादुर्भाव हो सकता है? सब समय निर्जीव मशीनों से काम करनेवाले व्यक्ति मशीन जैसे हृदयहीन हो जाते हैं। वातावरण का प्रभाव मनुष्य के मस्तिष्क पर अवश्य पड़ता है। खेत में निरानेवाले व्यक्ति का जो मन होगा उससे लोहे की फैक्ट्री में काम करनेवाले व्यक्ति का मन अवश्य ही भिन्न होगा। बाल-बच्चों में रहनेवाले और उनकी सेवा को ध्यान में रखनेवाले व्यक्ति का जैसा मन होगा, उसके भिन्न मन सदा पैसे को स्मरण करनेवाले व्यक्ति का मन होगा।

भारत के सच्चे राष्ट्र-निर्माताओं ने सदा भारतवर्ष की स्त्रियों के अन्वेषण करने की चेष्टा की है। स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गान्धी ने जो हमारे राष्ट्र में नव-

जायति पैदा की है उसका मूलाधार राष्ट्र के नवयुवकों को अपनी संस्कृति को समझनेकी इच्छा और उसका महत्त्व समझाने की प्रेरणा द्वारा हुआ है। अंग्रेजी में कहावत है कि जो व्यक्ति सोचता है कि मैं कुछ कर सकता हूँ वही कर सकता है। जिन व्यक्ति में आत्मविश्वास की कमी रहती है वह संसार में कुछ नहीं कर सकता है। इस आत्मविश्वास का आधार आत्मज्ञान है अर्थात् अपनी संस्कृति और परम्परा का ज्ञान तथा उसके प्रति सम्मान भाव।

दुःख की बात है कि हमारी राष्ट्रीय सरकारें महात्मा गांधी और अन्य मनीषियों की उन बातों को नष्ट से ओझल कर दिये हैं जो राष्ट्र के नवनिर्माण की आधार शिला हैं। आँख मूँद कर दूसरे देशकी नकल करनेवाले लोग कभी भी बड़े नहीं हो सकते। जिस व्यक्ति में स्वाभिमान नहीं रहता वही दूसरों की जल्दी से नकल करता है और नकल करनेकी क्रियाएँ मनुष्यके आत्मविश्वास को नष्ट कर देती हैं। जब हमारे राष्ट्र के नवनिर्माता देहात में जाते हैं तो उन्हें इस बात का अवश्य विचार करना चाहिए कि उनके रहने का और बोजने-चालने का ढङ्ग देहात के लोगों में किस प्रकार की मनोवृत्ति पैदा करेगा। वह उनमें आत्मविश्वास पैदा करेगा या अनुकरण की प्रवृत्ति। देहात के लोगों में आत्मविश्वास पैदा करनेके लिए हमें स्वयं पहले देहाती बन जाना होगा। हमारे गाँवों में नवजीवन लानेके लिए महात्मा गांधी स्वयं अपने वेश-भूषा में और रहन-सहन के ढङ्ग में इतने देहाती बन गये थे, कि उन्हें कोई पढ़ा-लिखा आदमी यह समझ ही नहीं पाता था, कि वे भी आधुनिक वैज्ञानिक युग की शिक्षा पाये हुए हैं। देहातियों ने महात्मा गांधी की बात इसलिए मानी कि वे उनके पास अपने बन कर गये। यदि एक व्यक्ति दूसरे के पास आना बन कर जाता है तो पहले की महानता दूसरे की भी महानता बन जाती है। जब वह दूसरा बन कर जाता है तो पहले की महानता दूसरे के व्यक्ति का दमन करती और उसका विनाश करती है। वह उसके आत्मविश्वास का अपहरण कर लेती है।

राष्ट्रके नवनिर्माण के कार्यकर्ताओं में अपनी योजना के प्रति अटूट विश्वास होना नितान्त आवश्यक है, और वह विश्वास तभी होगा जब कि वह योजना स्वयं राष्ट्रीय व्यक्तियों के मस्तिष्क से निकली हो। बाहर से लाई-गई योजना अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न करती है। फिर जो लोग उच्च अधिकारियों का दुर्जन मानकर राष्ट्र के नवनिर्माण में लगे हुए हैं, उनमें नवजायति करने की क्षमता की आशा करना निरर्थक ही है। उन्हें न तो जीवन के वास्तविक मूल्यों का ज्ञान रहता है और न उनकी दूसरों में पहचानने की शक्ति रहती है। संशययुक्त होकर जो लोग काम करते हैं, वे उस काम को सफल बनाने में समर्थ नहीं होते।

आधुनिक मनोविज्ञान हमें मनुष्य के मन के भीतर अन्तर्निहित महान शक्तियों का ज्ञान करा रहा है। जो व्यक्ति आज निर्बुद्धि और निष्क्रमा सा दिखाई पड़े रहा है वही कल देश का महान् कार्यकर्ता बन सकता है। आवश्यकता उसकी गुप्त शक्तियों के जाग्रित करने की है। इसी प्रकार जो राष्ट्र आज हमें आर्थिक बौद्धिक दृष्टि से गिरा हुआ दिखाई पड़ रहा है वही कल आध्यात्मिक शक्तियों के जाग्रित होने पर संसार का महान् राष्ट्र बन सकता है। जब तक मनुष्यों को अणु की शक्ति का ज्ञान नहीं था तब तक वह किसी प्रकार की लड़ाई में बड़े-बड़े यंत्रों को ढूँढता था। आज अणु की शक्तिका ज्ञान होने पर अणु बम बना लिया गया है जिससे शक्तिशाली यंत्र संसार में कोई भी नहीं है। अणु की शक्ति यदि रचनात्मक कार्य में लगाई जाय तो एक गिलास भर पानी से हजारों मिल्लों काम करने लगे और उन्हें कोयला और पेट्रोल की आवश्यकता ही न हो।

यह बात तो जड़ अणु की है। फिर चेतन अणु की शक्ति का कौन अन्दाज लगा सकता है। मनुष्य चेतन अणु है और उसकी अर्न्तआत्मा में ऐसी शक्ति वर्तमान है कि वह अपनी निष्ठा से संसार की कार्यापलट थोड़े दिन में कर सकता है। समाज मनुष्य का विराटस्वरूप है। किसी भी राष्ट्र के समाज में वह शक्ति है जिसके प्रकट होनेपर राष्ट्र कुछ का कुछ हो सकता है। मनोविज्ञान का सर्वोत्तम उद्देश्य यह है कि राष्ट्र के निर्माताओं को मनुष्य के मन में और समाज में रहनेवाली प्रसुप्त शक्तियों का ज्ञान करा दे। हमारा देश पाश्चात्य देशोंकी अपेक्षा भौतिक बातों में पिछड़ा हुआ अवश्य है, परन्तु इसका अर्थ हमें यह न समझना चाहिए कि हम उन्नति की दौड़ में दूसरों से सदा पिछड़े रहेंगे। मनुष्य की जिस प्रकार की मान्यता होती है उसी प्रकार उसका जीवन भी निर्मित होता है। यदि हम कल्पना करें कि दूसरे देशों से आगे नहीं बढ़ पावेंगे तो हम अवश्य पिछड़े रहेंगे और यदि हम विश्वास करें कि हम दूसरे देशों से जीवन की मौलिक बातों में किसी प्रकार कम नहीं हैं और जिन बातों में कम हैं, उन्हें पूरा कर लेंगे तो अवश्य ही हम अपने स्वप्न को वास्तविकतामें परिणत होते देखेंगे।

मनुष्य की जैसी कल्पना होती है उसका आचरण भी वैसा ही होता है। आचरण वातावरण-निर्माण करता है। अतएव यदि हम अपने वातावरण में परिवर्तन करना आवश्यक समझते हैं तो रचनात्मक कल्पना की अभिवृद्धि होना नितान्त आवश्यक है। आत्मविश्वास और आशावादी विचार रचनात्मक कल्पना की भल्लक हैं और सच्चा आत्मविश्वास उसी व्यक्ति को होता है जो अपने मन में निहित अदृश्य शक्तियों का ज्ञान करता है। इसी प्रकार सच्चा आत्मविश्वास उसी राष्ट्र को होता है जिसे अपनी खूबियों का ज्ञान है और जो इनके अभिवृद्धि करने की चेष्टा करता है। हमारे देहात में जीवन पैदा करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि देहातियों की अपनी कमियों का ज्ञान कराते हुए हम अपनी खूबियों का भी ज्ञान करावें। जो व्यक्ति देहात के लोगों की केवल कमियों का ज्ञान करावेगा, वह उनके आत्मविश्वास का अपहरण कर लेगा। इस प्रकार का ज्ञान थोड़े समय की भौतिक उन्नति भले ही करा दे वह चरित्र के सदगुणों का विनाशक होता है और जब मनुष्य के चरित्र के सदगुण का विनाशक हो जाता है तो उसकी सभी प्रकार की उन्नति शिलित हो जाती है।

यदि कोई मनुष्य बीमार हो तो उसे औषधि की आवश्यकता होती है परन्तु औषधि से भी अधिक आवश्यकता उसे सहानुभूति की होती है। शारीरिक रोगों में यह और भी सत्य है। शारीरिक रोगों से पीड़ित व्यक्ति प्रायः हमारे मन में दया के भाव की जाग्रति करता है। मानसिक रोगी इस प्रकार के भावों को जाग्रत कर साधारणतः उदासीनता और घृणा के भावों को जाग्रत करता है। जब कभी ऐसा होता है तब स्वयं चिकित्सक रोगी के रोग को पकड़ लेता है। यही कारण है कि सहृदयता के अभाव में बहुत से मानसिक चिकित्सक स्वयं पागल हो जाते हैं और वे मानसिक रोगी का लाभ न कर केवल उसकी ही नहीं बरन अपनी भी क्षति कर लेते हैं। यही बात राष्ट्र के चिकित्सकों के बारे में सत्य है। यदि हम सहानुभूतिपूर्वक ग्रामीण जीवन देखेंगे और उनके खोये हुए आत्मविश्वास को फिर से जाग्रित करने की चेष्टा करेंगे तो हम अपना भी आत्मविश्वास बढ़ा लेंगे और जनता का कल्याण करने में भी समर्थ होंगे। जहाँ स्नेह है वहीं प्रगति है, प्रेम प्रगति मूलक है और प्रेम का आवार सदगुणों का ज्ञान है। सुधारक की मनोवृत्ति सुधार करने में समर्थ नहीं होती। स्नेह की मनोवृत्ति ही अपने आप में और दूसरों में सुधार करने में समर्थ होती है।

कला और मानसिक आरोग्य

आधुनिक मनोविज्ञान की सबसे बड़ी खोज मनुष्य के अचेतन मन की खोज है। इस मन में मनुष्य की अनेक वासनायें रहती हैं। इसके सामञ्जस्य से मनुष्य सुखी और इनके विरोध से मनुष्य दुखी और रोगी होता है। कला के द्वारा मनुष्य इन वासनाओं के दुष्परिणाम से बचता है।

मनुष्य इच्छाओं का समूह मात्र है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य इच्छाओं का समूह है। मनुष्य की इच्छायें कभी समाप्त नहीं होती। एक इच्छा के पूरी होते ही दूसरी इच्छा आरम्भ हो जाती है। पर यह भी सत्य है कि मनुष्य की सभी इच्छायें पूरी नहीं होती, कुछ तो सामाजिक बन्धन के कारण, कुछ अपनी कमजोरी के कारण, कुछ दैवीय बाधाओं के कारण। मनुष्य की इच्छा जैसे जैसे पूरी होती जाती है, वैसे वैसे उसे आनन्द होता है। इच्छायें पूरी न होने पर उसे दुःख होता है। इस प्रकार दुःख सुख का चक्कर चलता रहता है। मनुष्य की जो इच्छायें पूरी नहीं होती, वे दमित होकर अचेतन मन में पहुँच कर चक्कर लगाया करती हैं। कभी-कभी मनुष्य के मस्तिष्क में विकार उत्पन्न कर देती हैं और बीमारियों का कारण भी बन जाती हैं। इच्छाओं का कोई अन्त नहीं। वे विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं। मनुष्य की इच्छायें ऐसी पदार्थों के लिये भी होती हैं, जो साधारणतया हमारी पहुँच के बाहर हैं। इन सभी इच्छाओं का कारण मनुष्य का मन या कल्पना शक्ति को कह सकते हैं। बैठे-बैठे हम एक दूसरी दुनियाँ की भी कल्पना कर लेते हैं। परन्तु कल्पना में आई सभी वस्तुओं को प्राप्त करना बड़ा कठिन है।

इस प्रकार कल्पना के आधार पर इच्छायें आती हैं और यदि ये इच्छायें पूरी नहीं होती तो हम इन्हें कल्पना में या स्वप्न में पूरी कर लेते हैं। यह इन ग्रन्थियों के सुलझाने का एक स्वाभाविक माध्यम है। जिन बातों को हम जागते हुए कर नहीं पाते, और जिनमें सामाजिक बन्धन तथा अपनी कमजोरी बाधक होती है, उनको भी सोकर स्वप्न में अच्छी तरह पूरी कर लेते हैं। यह एक प्राकृतिक उपचार है।

इस प्रकार स्वप्न का हमारे स्वास्थ्य के लिये कितना महत्व है यह हम सभी जानते हैं। यही महत्व मनुष्य की कला का है। वैसे तो हम सभी कला का तात्पर्य भिन्न भिन्न समझते हैं पर कला भी मनुष्य के स्वास्थ्य में साम्य और संतुलन उपस्थित करने का एक साधन है। जिस प्रकार स्वप्न में हम अपनी इच्छाओं का साक्षात्कार कर लेते हैं, उसी प्रकार कला या चित्रकला के द्वारा भी हम इनकी पूर्ति करते हैं। स्वप्न भी जब हमें याद रहते हैं तो हमें अपनी अचेतन भावना मालूम हो जाती है और अचेतन मन में दबी हुई बातें बाहर निकल जाती हैं तथा मनुष्य को स्वास्थ्य प्रदान करती हैं। उसी प्रकार हम कला (चित्रकला) के द्वारा भी अपने अचेतन मन में दबी इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं या उनको बाहर निकाल सकते हैं। चित्रकला से अनजाने अनेक प्रकार के रूप हम बना लेते हैं, और उनका साक्षात्कार करते हैं।

आधुनिक चित्रकला की प्रगति का यही आधार है। यही कारण है कि आधुनिक चित्रकारों के चित्रों में चित्रकारों के दबे हुए तमाम मनोभाव, उनके चित्रों में दिखाई पड़ते हैं। हम जब उनका मूल्यांकन करना चाहते हैं तो बड़ी कठिनाई होती है, क्योंकि हम चित्रकला को केवल फोटोग्राफी समझते हैं अर्थात् हम चाहते हैं कि साधारण आँख से जैसी वस्तुएँ दिखाई देती है वैसे ही चित्रकार भी बनाये। परन्तु चित्रकला फोटोग्राफी नहीं है। चित्रकार कैमरा नहीं है। वह चित्र अवश्य बनाता है पर उसमें

उसकी कल्पना तथा मनोवेग भी रहते हैं जो कैमरे की कृति में कदापि नहीं हो सकते ।

इस प्रकार आधुनिक चित्रकारों की यह नई प्रवृत्ति हो गई है कि वे अब अपने चित्रों में अधिकतर वह रूप देना चाहते हैं जो मनुष्य के भीतर छिपा रहता है । वे समाज के बन्धनों अथवा सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर अपने हृदय या अचेतन मन को बाहर प्रकाशित करते हैं और उसे उनको बहुत शान्ति तथा सुख मिलता है । जब कोई मनुष्य अति दुःखित होता है, जब उसे साधारण-तया रो रोकर घर भर देना चाहिये था परन्तु वह बिलकुल नहीं रोता बल्कि मूक हो जाता है तो लोग यह हैं कि उसे क्लाना या उसके हृदय के उदगारों को निकालना अत्यन्त आवश्यक है, नहीं तो इस मनुष्य के मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो जायेगे । यह सत्य है । इसी प्रकार आज की कला में कलाकार केवल उन बातों को मूर्त रूप देते हैं जो किसी कारण उनके छिपे हुए मानसिक जगत में आकर बैठ गई है । इस प्रकार चित्रकार और दर्शक दोनों ही मनुष्य के असली रूप का दर्शन कर पाते हैं । यह आत्म-ज्ञान में सहायक होता है । कला का यह रूप आधुनिक समाज के लिये एक वरदान है जिसे पाकर अनेक लोगों का कल्याण हो सकता है । इस प्रकार चित्ररचना से हम आत्मज्ञान प्राप्त कर अपने विकारों को निकाल सकते हैं और जीवन में साम्य पैदा कर सकते हैं । आधुनिक कला का यही आधार है । चित्रकार अधिकतर ऐसा ही रचना करते हैं जिसका चित्रण जागते हुए, या समाज के बन्धनों के सामने नहीं कर सकते ।

आधुनिक मनोविज्ञान ने कला निर्माण द्वारा मानसिक और शारीरिक रोगों के उपचार करने की एक अमूल्य खोज की है । प्रत्येक प्रकार के रोग में मनुष्य न केवल शरीर से बरन मन से भी कमजोर हो जाता है । कला मानसिक बल प्रदान करने का, मानसिक शान्ति प्रदान करने का, क्लुषित भावनाओं से मन को परिष्कृत करने का सर्वोत्तम साधन है ।

लम्बी बीमारी में मनुष्य कमजोर हो जाता है । वह कोई काम नहीं कर सकता । न उसे शारीरिक न मानसिक परिश्रम करने के लिए आशा मिलती है और न उसकी इच्छा ही होती है । सारा समय लेटे लेटे बीमारी में कटता है । किसी से बात करने की भी तवियत नहीं होती । केवल एक चारा बचता है दिन रात चिन्तन करना ! नींद भी कम आती है । चिन्तन भी भविष्य का नहीं क्योंकि रोगी के लिये और लम्बे अरसे के रोगी के लिए क्या भविष्य ? अगर है भी तो उसके बारे में अनिश्चितता और निराशा भरी रहती है । वह बीते हुए पर चिन्तन कर सकता है और निश्चय ही हर एक रोगी बीते हुए की ही अधिकतर चिन्तन करता रहता है और उनको याद कर दुःखी होता रहता है । वह अपना कष्ट कम करने के अतिरिक्त बढ़ाता रहता है । निराशा के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं पड़ता । बीमारी कम होने की अपेक्षा बढ़ जाती है । धीरे धीरे रोगी की धारणा पक्की होने लगती है कि अब उसका मर जाना ही इच्छा है । जीने का मोह या इच्छा भी कम हो जाती है । वह मृत्यु के और समीप आ जाता है । डाक्टर औषधि देते हैं, रोगी पीता है पर जिसे जीने की आशा नहीं, जो मरना चाहता है उसे डाक्टर या डाक्टर की दवा कैसे बचा सकती है ।

मरना कहते हैं 'मनुष्य के गति के रुकने को या मनुष्य की कार्य समाप्ति को' । हम उसे उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति के नष्ट होने को कह सकते हैं । रचनात्मक प्रवृत्ति जब तक मनुष्य में रहती है तभी तक वह कार्य करता है । बीमार आदमी कुछ नहीं कर सकता है और धीरे धीरे उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति का ह्रास होने लगता है । ज्यों ही उसकी समाप्ति होती है वह स्वयं समाप्त हो जाता है । कई बार यह सुनने में आया है कि वृद्ध रोगी, जिसे डाक्टरों ने मरा हुआ ही स्वीकार कर लिया है, जो किसी क्षण भी मर सकता है, वह चार दिन और जीता रहा क्योंकि वह अपने पुत्र से ज़िपटना चाहता था । ज्योंही

पुत्र आया इससे लिपटने की आशा की पूर्ति हुई वृद्ध समाप्त हो गया। कहते हैं कृष्ण जब गोपियों को छोड़ कर जा रहे थे तो गोपियों की अवस्था बहुत खराब हो गई परन्तु उन्होंने कहा कि जब तक आप लौट कर न आयेंगे तब तक अटकी रहेगी। अर्थात् कर्म की अभिलाषा जब तक रहती है मृत्यु समीप नहीं आती। इसी प्रकार मनुष्य के अन्दर जो सहज रचनात्मक प्रवृत्ति विद्यमान है उसका जब तक हास नहीं होता, शरीर नहीं मरता।

डा० हारली ने अपने 'कला के द्वारा चिकित्सा' नामक लेख में लिखा है कि मनुष्य की मूल प्रवृत्ति में सबसे अधिक महत्व पूर्ण उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति है। किन्हीं किन्हीं लोगों में यह अत्यन्त प्रबल होती है और किन्हीं में कम पाई जाती है, किन्तु कोई भी मनुष्य इससे बिलकुल हीन नहीं होता। इस रचनात्मक प्रवृत्ति का किसी रूप में प्रकाशन होने पर विशेष प्रकार के सन्तोष की अनुभूति होती है किन्तु जब इस प्रवृत्ति का प्रकाशन के साथ ही साथ क्रमिक विकास भी होता रहता है तब यह मनुष्य की साम्यावस्था में ले आती है और उसकी मानसिक उलझनों का अन्त करने में सहायक होती है। रचनात्मक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने का सर्वोत्तम उपाय चित्रकारी जैसी दृश्य कला की सृष्टि है। यक्ष्मा के रोगी साधारणतः निराश मनोवृत्ति के होते हैं और यदि उन्हें विशेष प्रकार उत्साह बढ़के चित्र दिखाये जायें तो उनमें फिर से जीवन आशा जाग सकती है। यदि रोगी स्वयं चित्र बनाए तो और भी अच्छा प्रभाव होता है; क्योंकि जब हमारी रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रकाशन का सीधा मार्ग मिल जाता है तो वह हमारी सच्ची मित्र बन जाती है और मनोविकारों को नष्ट कर शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का सन्देश हमें देने लगती है। यदि यही रचनात्मक प्रवृत्ति दमित हो जाय जैसा कि बीमारी की अवस्था में साधारणतया होता है तो शारीरिक व्याधि के साथ साथ अनेक प्रकार की मानसिक व्याधियों भी मनुष्य को प्रस्त कर लेती हैं।

एड्रियन हिल महाशय ने 'कला और रोग' नामक लेख में बताया है कि कला के द्वारा लम्बे समय के रोगियों को लाभ पहुँचाया जा सकता है। सामान्य चिकित्सा की अपेक्षा इस प्रकार की चिकित्सा का अधिक अच्छा प्रभाव रोगी पर पड़ता है, क्योंकि कला के द्वारा चिकित्सा के समय रोगी के अन्तर्मन को सामान्य चिकित्सा की अपेक्षा अधिक प्रभावित किया जा सकता है। प्रत्येक रोग की वास्तविक जड़ रोगी के अन्तर्मन में ही रहती है।

वैसे तो अन्य दूसरी कलाओं के माध्यम से भी रोगी का उपचार हो सकता है, परन्तु चित्र कला का उपयोग सबसे सरल और महत्वपूर्ण है। इसमें न तो रोगी को कोई असुविधा होती है और न बहुत मदद की आवश्यकता है। उसको केवल कागज, पेंसिल, ब्रश और रंग के डिब्बे की आवश्यकता होती है और फिर वह आसानी से कार्य आरम्भ कर सकता है।

सबसे पहले रोगी को विभिन्न प्रकार के ऐसे चित्र दिखाये जायेंगे जो उसे अच्छे लगते हैं। रोगी की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति की अच्छी तरह जाँच कर उसी के अनकूल चित्र उसे दिखाये जायेंगे। यहाँ चिकित्सक अपनी बुद्धि तथा अनुभव से काम लेगा। इस प्रकार चित्रों द्वारा रोगी का मन चित्रों की तरफ आकृष्ट किया जायगा। चिकित्सक इन चित्रों के बारे में रोगी से बातचीत भी करेगा और उसका मन बहलाने का प्रयत्न करेगा।

अधिकतर लम्बे अरसे के रोगी बेकार पड़े रहते हैं। उनका मन किसी कार्य में नहीं लगता। उनको कोई वस्तु जल्दी अच्छी नहीं लगती। इसलिये धीरे-धीरे उनको चित्र रचना करने के लिये प्रेरित किया

जायगा। अक्सर रोगी को यह धारणा रहती है कि उसकी मानसिक अवस्था भी खराब है और वह चित्र कला को भी नहीं जानता, इसलिये वह जल्दी यह काम करने को तत्पर नहीं होता, यद्यपि मन में इच्छा रह सकती है। यहाँ पर रोगी को यह बताना होगा कि उसके चित्र किसी को दिखाये नहीं जायेंगे, कोई उनके बारे में कुछ कहेगा नहीं और वह जो कुछ भी, जैसा भी बनायेंगे वह अच्छा ही होगा। उसे दूसरे रोगियों के बनाये चित्र दिखाये जा सकते हैं ताकि उसमें भी देखा-देखी चित्र बनाने की हिम्मत पैदा हो। इस प्रकार उसे प्रेरित किया जायगा, चित्र कला करने के सारे साधन उसके सम्मुख उपस्थित किये जायेंगे, रचनात्मक वातावरण पैदा किया जायगा और रोगी को उत्साहित किया जायगा। रोगी अवश्य चित्र का कार्य आरम्भ करेगा।

चिकित्सक रोगी के चित्रों की कभी भी नुक्ताचीनी नहीं करेगा। आवश्यकतानुसार वह उसके कार्य में सहायता कर सकता है। रोगी जो कुछ भी करेगा अपने मन से करेगा। चिकित्सक का कार्य केवल प्रोत्साहन देना है। जैसे-जैसे रोगी का मन चित्रकला में लगता जायगा, उसे आनन्द मिलेगा, आशा दिखाई पड़ेगी, प्रसन्नता बढ़ेगी, जीने की आशा आयेगी, रोग हल्का होगा, शरीर में स्फूर्ति बढ़ेगी और आत्मिक बल आयेगा; मानसिक ग्रंथि या शंकायें दूर होंगी।

मान लीजिये रोगी का रोग मानसिक है जिसका कारण उसके अचेतन में विद्यमान है जिसके प्रकाशित न होने के कारण ही उसमें विकार उत्पन्न हुआ है - तब भी चित्र कला द्वारा उसे अपने अचेतन मन की भावनाओं को प्रकाशित करने का माध्यम बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में रोगी को दो प्रकार के चित्र बनाने को कहा जायगा।

१--अपने चित्र में उन वस्तुओं, भावनाओं, उद्देश्यों, को स्थान दे जिनसे उसको अति घृणा हो।

२--अपने चित्र में उन वस्तुओं भावनाओं उद्देश्यों को स्थान दे जो उसे अति प्यारी हैं।

इस प्रकार क्रमशः उससे घृणा तथा प्रेम के चित्र बनवाये जायेंगे। रोगी को यह पहले बता दिया जायगा कि उसके चित्रों में चित्रकलाके आनुसंगिक, नियमों या शक्तियों का कुछ भी ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं।

वह जब चित्र बनायेगा तो कम से कम समय में बिना अधिक सोच, विचार किये स्वतः चित्र रचना करेगा और बिना किसी हिचकिचाहट या शर्म के जो भी उसके मन में आता है तुरन्त रचना करेगा।

इस प्रकार वह जो चित्र बनायेगा उसका प्रयोग उसके मनोविश्लेषण में करके हम उसकी मनो-वृत्तियों को जान सकते हैं और उनका तात्पर्य समझ कर रोग का उपचार कर सकते हैं। वैसे तो जैसे जैसे उसकी दमित इच्छायें चित्र के रूप में बाहर आयेंगी उसका रोग कम होगा, पर चिकित्सक उसके चित्रों द्वारा उसकी मानसिक आवश्यकताओं को समझकर उसे स्वयं भी अपनी ओर से कुछ ऐसे रचना दे सकता है जो उसके रोग के उपचार स्वरूप होंगे।

रोगी अपने अचेतन मन की वासनाओं और भावनाओं को प्रतीकों के द्वारा अपने चित्र में, रखता है। इन प्रतीकों का विश्लेषण करना चिकित्सक का कार्य हो सकता है।

मानसिक खिचाव

(श्री सीताराम जायसवाल)

प्रत्येक व्यक्ति अपने मनमें सदा अनेक प्रकार के मानसिक खिचाव का अनुभव करते रहता है। यही खिचाव उसकी चिन्ताएँ बन जाती हैं। इस खिचाव के कारण ही उसकी बहुत सी शक्तियों का अपव्यय होता है। मनोविज्ञान की खोजों की यदि कोई विशेष उपयोगिता है तो इस प्रकार के खिचाव को समझने में है। मनोविज्ञान मनुष्य को अपने आपको समझने में सहायता देता है। उसका समाज से क्या सम्बन्ध है और उसकी सामाजिक क्रियाओं का मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ता है यह मनोविज्ञान स्पष्ट करता है। बहुत से मानसिक खिचाव के कारण समाज में रहते हैं। यदि मनुष्य अपने समाज से सम्बन्ध को सुधार ले और अपने जीवन-दर्शन को सुगठित कर ले तो उसके अनेक प्रकार के मानसिक खिचाव नष्ट हो जायें।

मनुष्य एक विशिष्ट प्रकार के मस्तिष्क का प्राणी है। वह अपने को सभ्य मानता है। जीवन-पर्यन्त उसकी यही कोशिश रहती है कि वह दूसरों के बीच आदर पाये और वह दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करें। इसी एक उद्देश्य के पीछे वह सतत लगा रहता है, एवं अनेकों उधेड़बुन करता रहता है जिससे वह दूसरों के आकर्षण की वस्तु बने और सम्मान पाए। धन, सुख, समृद्धि आदि तमाम चीजें, जो वैभव की श्रेणी में आती हैं, चेतन अथवा अचेतन रूप में दूसरों का ध्यान अपनी ओर खींचने के साधन हैं। ये सभी मानसिक खिचाव उत्पन्न करती हैं। संसार के बड़े-बड़े आविष्कारों, जिन्हें देख कल्पना भी कुछ श्रय के लिए हार मान लेती है, उनमें भी अपनी महत्ता जमाने की एवं दूसरों के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनने की भावना छिपी होती है। विश्वविख्यात मनोवैज्ञानिक एडलर महाशय ने इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को 'आत्म-प्रकाशन' की प्रवृत्ति कहा है। इसी आत्म-प्रकाशन के पीछे मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाएँ सतत लगी रहती हैं। हमने आत्म-प्रकाशन की क्रिया और उसके परिणाम को जान बूझकर अथवा बोले में आकर 'सभ्यता' और 'सभ्यता का विकास' नाम दे रखा है। वास्तव में अनियन्त्रित आत्म-प्रकाशन चिन्ता एवं मानसिक खिचाव का कारण होता है।

मनुष्य का उपरीक्त स्वभाव सामान्यतः सत्य है, जिसे कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति से प्रेरित हो मनुष्य ने कितने ही चमत्कारिक कार्य कर डाले हैं। पर दुःख यह है कि चमत्कारिक कार्यों को ही उसने अपना लक्ष्य मान लिया है और वास्तविक लक्ष्य वह समझ ही नहीं पाया। वास्तविक लक्ष्य, जीवन और उसके आन्तरिक-मूल्यों के साथ चमत्कारिक-कार्यों का समन्वय कर सहयोगात्मक सामाजिक जीवन व्यतीत करना है। पर भय-यह है कि वह गलत रास्ते पर चलकर अपना अस्तित्व ही न खो बैठे। हम यह भी कह सकते हैं कि गलत मार्ग पाई हुई वस्तु का व्यर्थ प्रदर्शन करना है अथवा गलत तरीके से दूसरों का ध्यान आकृष्ट करना है।

एक दूसरी गलत पहलू और भी है जो पहले के अन्तर्गत आ जाता है। वह अधीरता है। अधीरता मानसिक खिचाव की सूचक है। मनुष्य चाहता है कि जल्द से जल्द प्राप्त चमत्कारिक साधनों का प्रयोग कर नाम पा ले। उदाहरण के लिए अमेरिका के वैज्ञानिकों ने अणु-शक्ति का अनुसन्धान कर, उसे रचनात्मक दिशा में न लगाकर ध्वंसात्मक दिशा में मोड़ दिया। अमेरिका ने अणु-बम का प्रयोग कर हिरोशिमा को ध्वंस कर दिया और संसार में प्रथम-श्रेणी का शक्तिशाली राष्ट्र कहलाने का गौरव प्राप्त किया, पर उसे शान्ति न मिली।

मानसिक खिचाव के निवारण के लिए 'प्रगति और विराम' तथा 'प्राप्ति और आत्ममृत' के व्यव-

हारिक सिद्धान्त पर कार्य करने का अभ्यास करना होगा। यह क्षेत्र रचनात्मक है।

सम्मान पाने अथवा दूसरों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए मनुष्य केवल शारीरिक श्रम अथवा उससे सम्बन्धित मानसिक श्रम ही नहीं करता बल्कि वह कल्पना-जगत में भी विचरता है। वह हवाई किले भी बनाया करता है। इससे अनेक प्रकार की चिन्तायें मनुष्य के मन में आती रहती हैं और उसका मानसिक खिचाव अत्यन्त बढ़ जाता है।

मनुष्य अपने मानसिक खिचाव को सद्बिचार के द्वारा अन्त कर सकता है। मनुष्य का 'मन' एक ऐसा पदार्थ है जो सतत दौड़ता ही रहता है। जिस व्यक्ति ने अपने स्वार्थ में मन को लपेट लिया है, वह किसी प्रकार का आराम नहीं पाता। यदि 'मन' पर अधिकार प्राप्त कर लिया जाय तो निश्चित है कि मनुष्य मृगतृष्णा से मुक्त होकर यथार्थ सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत कर ले। मनुष्य अपनी सदबुद्धि से काम लेकर ऐसी परिस्थितियाँ बना सकता है जिससे मन का भटकना कम हो सके।

सर्वप्रथम एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता है जहाँ एक व्यक्ति की महत्ता इकाई रूप में न्यूनतम हो, मानव-विशेष नहीं अपितु मानव-समाज की महत्ता इकाई रूप में आवे। ऐसी व्यवस्था में एक व्यक्ति के आत्म-प्रकाशनसे व्यक्ति की महत्ता न बढ़े, फिर भी वह सम्पूर्ण समाजकी महत्ता बढ़ाएगा। आत्म-प्रकाशन का भाव विस्तृत सामाजिक रूप ले लेगा। उस समाज का प्रत्येक व्यक्ति सहयोग के वातावरण में सम्मिलित रूप से कार्य करेगा। इसमें व्यक्ति के मनका अप्राप्य वस्तुओं के लिए जो उसकी शक्ति और पहुँच के परे हैं, भटकना बन्द हो जायगा। उस व्यवस्था में मनुष्य के दैनिक-जीवन की आवश्यकताएँ गौण रहेंगी, जिनके पीछे मनुष्य का मन अत्यन्त अशान्त रहता है। ऐसे समाज में आत्म-प्रकाशन की मूल-प्रवृत्ति के पीछे गलत तरीकों का स्वतः अन्त हो जायगा, क्योंकि समाज के रूप में ही व्यक्ति की महत्ता रहेंगी; व्यक्ति विशेष क्या करता है, इस पर नहीं। मनुष्य की संकीर्णता नष्ट हो जायगी। दूसरों की खुशी और सुख से वह स्वयं खुश और सुखी होगा। उसकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ रचनात्मक दिशा में मुड़ जायगी। 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' उसका लक्ष्य होगा और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' उसका आचार। इस प्रकार स्वार्थ के चले जाने पर मानसिक खिचाव भी चला जाता है।

व्यक्तिगत रूप में प्रयोगार्थ भी कुछ साधन लाभप्रद हो सकते हैं, जिनका हमें प्रयोग करना चाहिये। व्यक्ति अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहने की कोशिश करे। वस्तु की नश्वरता की भावना एवं अपनी आन्तरिक शक्ति का अनुभव हमें सन्तुष्ट बनाने में प्रयाप्त सहायता देते हैं। अपनी अतुल आन्तरिक शक्ति पर विश्वास कर भौतिक आवश्यकताओं को अपने सन्तुष्ट जीवन के लिए हमें कम करते रहना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि हमें अभाव के बुरे दिन न देखने पड़ेंगे और न हमारा मन ही भटकेगा।

यदि हम दुःख में हैं तो यह सोचें कि इससे भी बुरे दिन आ सकते हैं, फिर चिन्ता क्यों? साथ ही कठिन परिस्थितियाँ तो हमारी आन्तरिक शक्ति की परीक्षा-स्थली हैं। यदि हम इन परीक्षाओं में सफल होते हैं तो हमारी शक्ति और भी बढ़ जायगी। मानव-कल्याण हेतु अपने को अपित कर देनेसे एवं दूसरे के हित से अपना हित अनुभव करने से भी मन का भटकना कम हो जाता है। अपने अस्तित्व को बेकार समझ यह सोचना कि हम बहुत बड़े कार्य में लगे हैं, इससे समाज का बड़ा उपकार होगा। आदि की भावना से हम अपने में आत्म-विश्वास पैदा कर सकते हैं। ऐसा अनुभव करने से एवं अपनी विचारधारा बदलनेसे एकाग्रता सरल हो जाती। व्यवस्थित एवं सतत कार्यशील-जीवन भी मन के खिचाव को अर्थात् चिन्ता को नष्ट करता है।

मेरा स्वास्थ्य लाभ

आज से ६ महीने पूर्व मेरी तबियत अत्यन्त संकटपूर्ण हो गई थी। वास्तव में शारीरिक कष्ट तो कम था, पर मानसिक कष्ट अधिक था। मुझे यही ज्ञात होता था कि मेरे हृदय की गति अब निकट ही बन्द हो जायगी और मेरे जीवन का अन्त हो जायगा। मेरे सारे सुख समाप्त हो जायेंगे। यही भावनायें मुझे दिन रात अनवरत गति से त्रास दिया करती थीं। ऐसी अवस्था में न तो भूख ही लगती थी और न भोजन ही अच्छा लगता। पाखाना भी शुद्ध नहीं होता था। दिन भर पेट बड़बड़ाया करता था। पाचन-शक्ति दुर्बलता की गोद में जाकर विश्राम ले रही थी। मेरा स्वास्थ्य इतना गिर गया कि चलना फिरना भी प्रायः असम्भव हो गया। ये सब सारी बातें सामूहिक रूप से तीन, चार महीने में भी इतनी उग्र रूप धारण कर ली कि मुझे इसके औषधि के लिये कोई मार्ग ही न दृष्टिगोचर हुआ।

अत्यधिक अन्तर्सेवर्ष के पश्चात् मुझे यह विश्वास हुआ कि मेरा रोग मानसिक है, और मैं अपने रोग के विषय में सलाह लेने प्रो॰ लालजीराम शुक्ल के पास गया। उनके घर पर उनसे मेंट न होने के कारण मैं सरसुन्दर अस्पताल में चला गया। मैं वहाँ की दवा कराने लगा। चार, पाँच दिवस पश्चात् पुनः मैं श्री शुक्ल से मिला। मैंने उनसे सारी बातें कह दीं। औषधालय की चिकित्सा मेरे लिये असमर्थ सिद्ध हो गई। मैं वहाँ से निराश लौट आया था।

श्री शुक्लजी ने सर्व प्रथम मेरी सारी बातों को ध्यानपूर्वक सुना। वे केवल बीच-बीच में कुछ मेरे संतोष के लिये कह देते थे और मुझे आगे की बातों को कहने के लिये भी प्रेरणा देते जाते थे। उन्होंने मुझे बताया कि संसार के सभी प्राणी मर्त्य हैं। किसी के अभाव में संसार का कार्य रुकता नहीं है। जिनकी मृत्यु निकट आ गई है उनको कोई बचा भी नहीं सकता। उदाहरण देते हुए बताया कि अभिमन्यु जिस समय लड़ाई के मैदान में मारा जाने लगा, कृष्ण उसके सगे मामा होते हुए जो परमब्रह्म परमात्मा कहे जाते हैं उसे नहीं बचा सके।

ऐसे ही अनेक बातें मुझे समय-समय पर समझाते रहे। मुझे अनिद्रा का भी रोग बड़ी उग्रता के साथ था, उसके लिये उन्होंने शान्ति भावना का अभ्यास बतलाया। मेरे मन का विश्लेषण करने के लिये स्वप्नों का लिखवाना प्रारम्भ किया। मेरे मन में जितने भी बुरे तथा कुत्सित विचार थे, और बुरे कार्यों को जिन्हें मैं सामाजिक भय के कारण बाहर नहीं निकलना चाहता था, उन सब कुत्सित तथा दबी भावनाओं का चेतनास्थल पर लाया गया। शान्ति भावना का अभ्यास करने के लिये उन्होंने मुझसे कहा। उसका अभ्यास दिन में कई बार एकान्त में बैठकर करने के लिये सलाह दी गई। उन अभ्यासों को मैं गुरुमन्त्र की भाँति लगातार करता रहा। ज्यों-ज्यों मैं उन अभ्यासों को करता रहा उसमें मुझे आनन्द मिलता जाता था। इन अभ्यासों के करने के परिणामस्वरूप मेरे सारे संकट समाप्त हो गये।

तत्पश्चात् मैंने यह अनुभव किया कि मेरा रोग केवल काल्पनिक ही था; शरीर की सारी दुर्बलतायें नहीं थी बल्कि मन की दुर्बलतायें थीं। इनके विश्लेषण से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि ये रोग अधिक भोग विलास में लिप्त रहने के कारण हुआ करते हैं। जब मन में अनेक प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाते हैं तब इन दोनों का प्रकाशन किसी परिवर्तित रूप में होता है। इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण मानसिक दुर्बलता भी बढ़ती जाती है। इस दुर्बलता के कारण व्यक्ति की सारी शक्तियों का ह्रास हो जाता है। उसे

अपने भविष्य के लिये कुछ सोचने की शक्ति नहीं रह जाती। जीवन भारस्वरूप हो जाता है। संसार सुना दिखलाई पड़ता है। सारी अभिलाषायें कुंठित हो जाती हैं।

शनैः शनैः मेरे रोग का अन्त होने लगा। पुनः मैं अपने मृत्यु की बहियाँ गिनने के स्थान पर मैं भविष्य के उज्ज्वल और प्रकाशमान देखने लगा। अब तो मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। प्रसन्नतापूर्वक संसार में विचरण कर रहा हूँ। पुरानी स्मृतियाँ मस्तिष्क को कभी कभी धक्का अवश्य देती हैं, पर पानी के लहरों की भाँति उठती और अपने में ही विलीन हो जाती हैं। मेरा जीवन पहले भारस्वरूप हो गया था। अब उसमें आनन्द, प्रेम, आशा, सरसता का आभास होने लगा। इन चमकते हुए सितारों के प्रकाश में मैंने अपने जीवन की सुदृढ़ नींव डाल दी। अनेक परीक्षाओं में प्रवेश किया, सफलता मिली। सारी उद्ध्वेगता, व्याकुलता तथा उदासीनता समाप्त हो गई। मैं अपने को सफल व्यक्ति मानने लग गया हूँ।

[उपर्युक्त वृत्तान्त से स्पष्ट होता है कि मनुष्य के बहुत से शारीरिक रोगों के कारण मानसिक होते हैं, और जब तक इन कारणों को नहीं हटाया जाता मनुष्य का शारीरिक रोग नहीं जाता। रोग स्वयं मानसिक विकार को निकालने का प्राकृतिक साधन है। जिस प्रकार दिवास्वप्न तथा सैकेतिक चेष्टाओं द्वारा मानसिक विकार प्रतीक रूप से बाहर होता है इसी प्रकार वह रोग के रूप में भी प्रतीक रूप से बाहर होता है। रोग के सूक्ष्म निरीक्षण से तथा रोगी के अध्ययन से दमित वासना अथवा मानसिक विकार को पहचाना जाता है। जब रोगी चिकित्सक की सहायता से अपने मन में उपस्थित अप्रिय वासना को पहचान लेता है तब उसका नियंत्रण करना सरल हो जाता है। अपने स्वभाव का ही एक अंग आत्म-नियंत्रण के बाहर रहने के कारण मनुष्य की हृच्छा शक्ति दुर्बल होती है। आत्म-स्वीकृति से संपूर्ण आत्म-नियंत्रण आ जाता है और हृच्छाशक्ति बलवती हो जाती है। इस प्रकार मानसिक रोग समाप्त हो जाता है। रोगी स्वयं अपने प्रयत्न से आरोग्य लाभ करता है। चिकित्सक पथ प्रदर्शक मात्र है पथगामी स्वयं रोगी है। चिकित्सक की सहायता से रोगी अपने आपको पहचानता है और आत्म-समन्वय स्थापित करता है। उपर्युक्त रोगी एक ओर आदर्शवादी या ओर दूसरी ओर दमित योग वासनारों उसके मनमें उपस्थित थीं। मनो-विश्लेषण से दोनों स्वत्व में एकत्व स्थापित हुआ और रोग समाप्त हो गया।

मानसिक रोग मनुष्य को आन्तरिक मन की स्थिति स्वीकार करने के लिये बाध्य करता है। रोग का उद्देश्य इस स्थिति को जताना है। रोग मनुष्य के बड़े हुए अभिमान को कम कर देता है। इससे अपने आपका पहचानना सरल हो जाता है। रोग के पूर्व मनुष्य का अभिमान बढ़ा हुआ रहता है। रोग के बाद यह कम हो जाता है। जब मनुष्य अपनी झूठी महानता से मुक्त हो जाता है तो उसका रोग चला जाता है। चिकित्सक रोगी का ही आदर्श स्वत्व है। चिकित्सक के समक्ष अपनी वासनारों को स्वीकार करना अपने आप ही उन्हें स्वीकार करना है। इस स्वीकृति के लिये चिकित्सक को इतना उदार बनना पड़ता है कि रोगी उससे अपनी आत्मीयता अनुभव करे। तभी वह हृदय की बातें खोलता है और तभी उसे आरोग्य लाभ होता है—संपादक]

श्री गुरु

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।

गुरुदेव दीक्षा ली।